# हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़ में पीएच.डी.(हिंदी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत

**शोध-प्रबंध**


**शोध निर्देशक**

डॉ. अरविन्द सिंह तेजावत

**शोधार्थी**

अतुल कुमार

पंजीयन सं:- CUH1701210205

अनुक्रमांक - 10205



**हिंदी विभाग**

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान पीठ

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, जांट-पाली, महेंद्रगढ़ -123031



2021

# घोषणा-पत्र

मैं, **अतुल कुमार** यह घोषणा करता हूँ कि **डॉ. अरविन्द सिंह तेजावत** के शोध निर्देशन में **'हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन'** विषय पर पीएच. डी. (हिंदी) की उपाधि प्राप्ति हेतु शोध-प्रबंध प्रस्तुत कर रहा हूँ। यह शोध कार्य पूर्णतः मौलिक एवं शोधपरक है। मेरी जानकारी में इससे पूर्व हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय तथा अन्य किसी भी संस्थान अथवा विश्वविद्यालय में इस विषय पर कोई शोध कार्य नहीं हुआ है। इस शोध-प्रबंध के लेखन में समस्त संदर्भों का यथास्थान उल्लेख किया गया है।

**शोधार्थी**

**( अतुल कुमार )**
पंजीयन सं.- CUH1701210205
अनुक्रमांक - 10205

# प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री अतुल कुमार ने मेरे निर्देशन में पीएच. डी. (हिंदी) की उपाधि हेतु **'हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन'** विषय पर शोध कार्य किया है। यह शोध कार्य इनके मौलिक प्रयास का प्रतिफलन है।

मैं इस शोध-प्रबंध की मौलिकता और प्रतिपादित तथ्यों की उपयोगिता को दृष्टिगत कर इसे मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।

**अध्यक्ष / प्रभारी**

हिंदी विभाग
हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय

**शोध-निर्देशक**

**(डॉ. अरविन्द सिंह तेजावत)**
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग
हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़

# भूमिका

भारतीय समाज में जाति के प्रश्न ने सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, शैक्षणिक जीवन को जिस प्रकार प्रभावित किया है वह किसी से छिपा नहीं है। साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। जाति को समाज में सिर्फ एक हथियार के रूप में नहीं बल्कि वर्चस्व स्थापित करने के लिए भी इस्तेमाल किया गया है, इसका उदाहरण भारतीय समाज में दलितों पर हो रहे शोषण एवं अत्याचार के मामले में देख सकते हैं। साहित्य में भी दलित समाज की संवेदनाओं को न के बराबर जगह दी गई है, जबकि हर वर्ष हजारों की संख्या में पुस्तकें प्रकाशित होती हैं और वह अलमारियों तक की सीमित रह जाती हैं। ऐसी विषम परिस्थितियों में दलित समाज के रचनाकारों ने साहित्य के सरोकार एवं मानवीय संवेदना के आधार पर दलित साहित्य की रचना प्रारंभ की। दलित साहित्य संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकार एवं वंचित समाज को उनका हक दिलाने की बात करता है। दलित साहित्य पर डॉ.. भीमराव अंबेडकर के विचारधारा के प्रभाव को भी नकारा नहीं जा सकता है। यह साहित्य दलित समाज के जीवन का हिस्सा है इसलिए यह जीवन के प्रति विश्वास उत्पन्न करता है।

मेरे शोध का विषय 'हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन' है। इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज में परास्नातक करने के दौरान दलित विमर्श पढ़ने में मेरी रुचि उत्पन्न हुई। दलित साहित्य और हाशिए पर रह रहे समाज के प्रति जानने की जिज्ञासा पैदा हुई। इसी रुचि के आधार पर मैंने एम. फिल. 'दलित साहित्य में अभिव्यक्त भूमि समस्या' नामक शीर्षक से अपना अलग लघु शोधप्रबंध हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय में जमा किया। पीएच.डी. करने के लिए 'हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन' को अपना विषय चुना, जिसमें मेरे शोध निर्देशक डॉ. अरविंद सिंह तेजावत ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

शोध प्रबंध के पहले अध्याय में भारतीय समाज के अध्ययन की पद्धतियाँ और दलित समाज के विषय में विस्तारपूर्वक चर्चा की है। समाज अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ और भारतीय समाज

विचारकों के परिपेक्ष्य में दलित समाज की चर्चा की है। दूसरे अध्याय में हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथा की परंपरा के विषय में बताया है। आत्मकथा के उद्भव एवं विकास के साथ अन्य विधाओं की भी बात की गई है। तीसरे अध्याय में साहित्य और समाजशास्त्र के संबंध एवं साहित्य का समाजशास्त्र और दलित आत्मकथाओं के बीच के संबंध को विश्लेषित किया गया है। विश्लेषण के आधारों पर दलित आत्मकथा को देखने का प्रयास किया है। चौथे अध्याय में मराठी की दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया गया है, जिसमें मराठी समाज और दलित समाज के संबंधों को दिखाया है, इसके उपरांत साहित्य का समाजशास्त्र और मराठी की दलित आत्मकथाओं के बीच के संबंध को बताया है। इसके उपरांत मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया है। पाँचवा अध्याय जो कि मेरे शोध प्रबंध का मुख्य अध्याय है, जिसमें हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया गया है। मराठी दलित साहित्य की आत्मकथा एवं हिंदी दलित साहित्य की आत्मकथाओं के क्या संबंध है और उनके समाजों में क्या-क्या भिन्नताएँ हैं। उपसंहार में हिंदी दलित आत्मकथा एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं की आलोचना की। उनमें वर्णित शोषण के माध्यमों की चर्चा की है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के विषय निर्धारण से लेकर शोध प्रबंध की पूर्णता तक कई लोगों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इस कड़ी में मैं अपने शोध निर्देशक डॉ. अरविन्द सिंह तेजावत का हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। उनके कुशल निर्देशन में मेरा यह शोध कार्य अपनी परिणत तक पहुँच पाया है। शोध लेखन के दौरान उन्होंने हर प्रकार से मेरी सहायता की तथा समय-समय पर मेरा उत्साहवर्धन करते हुए शोध के प्रति दृष्टिकोण से मुझे अवगत कराया। विभाग के प्रभारी डॉ. अमित कुमार तथा आदरणीय डॉ. सिद्धार्थ शंकर राय के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

माता श्रीमती गीता देवी- पिता श्री अमृतलाल के ऋण से उऋण नहीं हुआ जा सकता है फिर भी शोध कार्य में उनके सहयोग के लिए आजीवन उनका ऋणी रहूँगा। भाई राहुल कुमार और राकेश

कुमार के अमूल्य योगदान के लिए उनका आभारी हूँ। मित्रों का सहयोग मुझे हमेशा प्राप्त होता रहा है उनके प्रति आभार व्यक्त करना महज खानापूर्ति होगी।

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय के सभी शैक्षणिक एवं गैरशैक्षणिक कर्मचारियों, हिंदी विभाग के सभी शोधार्थियों तथा परास्नातक के सभी विद्यार्थियों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

दिनांक -.....  अतुल कुमार

स्थान- ह. के. वि., महेंद्रगढ़

# अनुक्रमणिका

**भूमिका** i-iii

**प्रथम अध्याय :**

समाज के अध्ययन की पद्धतियाँ और दलित समाज 1-41

1.1 भारतीय समाज की अवधारणा

1.2 समाज अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ

1.3 भारतीय समाज में दलित

**द्वितीय अध्याय :**

हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथा परम्परा 42-67

2.1 हिंदी आत्मकथा परम्परा में दलित आत्मकथाएँ

2.2 मराठी दलित आत्मकथा परम्परा

**तृतीय अध्याय :**

हिंदी की दलित आत्मकथाएँ और समाजशास्त्रीय अध्ययन 68-94

3.1 साहित्य और समाज का अंतर्संबंध

3.2 साहित्य का समाजशास्त्र और दलित आत्मकथाएँ

3.3 दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

**चतुर्थ अध्याय :**

मराठी की दलित आत्मकथाएँ और समाजशास्त्रीय अध्ययन 95-127

4.1 मराठी समाज और दलित

4.2 साहित्य का समाजशास्त्र और मराठी दलित आत्मकथाएँ

4.3 मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

**पंचम अध्याय :**

हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन :

समानताएँ व भिन्नताएँ 128-200

5.1 सामाजिक परिवेश

5.2 रीति-रिवाज एवं मान्यताएँ

5.3 कथावस्तु एवं कथाशिल्प

उपसंहार 201-204

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची 205-211

**प्रथम अध्याय**

# समाज के अध्ययन की पद्धतियाँ और दलित समाज

भारत में धर्म के आधार पर, भाषा के आधार पर, संस्कृति के आधार पर, भौगोलिक आधार पर अलग-अलग लोग निवास करते हैं, लेकिन भारतीयता और हमारा संविधान एक में बाँधती है। मनुष्य जिस क्षेत्र में निवास करता है उसकी अपनी बोली, भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज होता है। भारत में भी निवास करने वाले लोगों की अपनी भाषा, बोली, रीत-रिवाज, परंपराएँ हैं। मनुष्य किसी न किसी परिवार का अंग होता है। परिवार किसी न किसी समुदाय या समाज का अंग होता है। उस समाज में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन होते हैं तो उससे मनुष्य भी प्रभावित होता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मनुष्य एक समुदाय का अंग होता है। मनुष्य अपनी भावनाओं को अपने में सीमित नहीं रखता, भाषा एवं भावनाओं के माध्यम से एक से दूसरे में संपर्क करता है। ग्राम, जनपद, राज्य, देश सबसे जुड़कर अपने व्यक्तित्व और भावना को बताता है। इसी आधार पर एक समाज का निर्माण होता है जिसमें मनुष्य निवास करता है, जबकि वैज्ञानिक ढंग से समाज शब्द का प्रयोग समाजशास्त्र के संबंध में किया जाता है-जैसे मुस्लिम समाज, हिन्दू समाज, आर्य समाज, ईसाई समाज, पारसी समाज, बौद्ध समाज, जैन समाज, दलित समाज। समाजशास्त्र में समाज का प्रयोग सामाजिक संबंधों के अर्थों में किया जाता है। समाज मानव के जीवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। मनुष्य समाज में रहकर अपनी मूलभूत आवश्यकताएँ रोटी, कपड़ा, मकान और वासना आदि आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ-साथ उस में समूह के कल्याण की भावना जागृत करता है। सामान्यता समाज से अभिप्राय उस परिवेश से लिया जाता है जहाँ मनुष्य रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है। वैसे तो समाज का निर्माण प्रत्येक प्राणी करते हैं लेकिन मनुष्य सब प्राणियों में बुद्धि के आधार पर श्रेष्ठ है। इसलिए श्रेष्ठता और बुद्धि की प्रधानता के कारण मनुष्य समाज के अन्य प्राणियों की अपेक्षा अपने जीवन में अधिक व्यवस्थित होता है समाज शब्द में अत्यंत व्यापक व सामाजिक संबंधों का एक बड़ा जाल है।

## 1.1 भारतीय समाज की अवधारणा:

व्यक्ति और समाज के बिना एक दूसरे की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक अपनी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज पर ही निर्भर रहता है। बिना व्यक्ति के समाज भी नहीं हो सकता है। अतः समाज के अभाव में व्यक्ति के सार्थक और उद्देश्यपूर्ण जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। यदि व्यक्ति को जीवन के प्रारंभ से अंत तक किसी भी रूप में समाज का सहयोग प्राप्त न हो तो उसके लिए जीवित रहना ही असंभव होगा। ऐसी स्थिति में यह कहना अनुचित न होगा कि व्यक्ति का संपूर्ण विकास ही नहीं अपितु उसका अस्तित्व ही अंततः समाज पर निर्भर है। "व्यक्ति स्वयं नितांत महत्त्वहीन तथा सामाजिक हित का साधन मात्र है जिसका समाज अपनी इच्छा अनुसार उपयोग कर सकता है समाज पर आश्रित होते हुए भी व्यक्ति अपने कर्मों तथा विचारों द्वारा उसे प्रभावित तथा परिवर्तित कर सकता है समय-समय पर महान विचार को एवं दार्शनिकों के विचारों के फलस्वरूप समाज में जो क्रांतिकारी परिवर्तन और सुधार हुए वह सभी इसी तथ्य का प्रमाण को प्रमाणित करते हैं।"[1] व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक जान पड़ते हैं। बिना व्यक्तियों के किसी भी समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है और बिना समाज के व्यक्ति के अंदर न तो नैतिकत, स्वभाव और न ही उसके आचार-विचार का विकास हो सकता है। इसी प्रकार से व्यक्ति प्राचीन काल से ही अपने आप को परिष्कृत एवं परिमार्जित करते हुए वर्तमान समय तक आया है। भारतीय समाज के विकास के स्वरूप को उसी प्रक्रिया में देखना होगा।

भारतीय समाज विभिन्न संस्कृतियों, सभ्यताओं और प्रजातियों के निर्माण की एक प्रक्रिया है। प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय समाज में अनेक धर्मों, जातियों एवं सम्प्रदायों के लोग निवास करते थे। जिनकी प्रथाएँ, मूल्य, विश्वास, रहन-सहन के तरीके, भोजन एवं वस्त्र आदि में काफी भिन्नता देखने को मिलते है। ग्रामीण और नगरीय जीवन में भी स्पष्ट अंतर दिखाई पड़ता है। जहाँ एक ओर शिकार, फल, कंदमूल आदि के द्वारा अपना जीवन यापन करने वाले आदिम जनजातियाँ पाई जाती हैं, तो दूसरी ओर नगरी समुदाय में ऐसे लोग हैं जो नवीनतम वैज्ञानिक यंत्रों के माध्यम से अपनी आजीविका

चलाते हैं। भारतीय समाज में हजारों वर्षों से प्रजातियाँ और सांस्कृतिक सम्मिश्रण भी होता रहा है। भारतीय समाज में विभिन्न प्रजातियाँ मिश्रित रूप में पाई जाती हैं। यहाँ द्रविड़ों की संस्कृति, आर्यों की संस्कृति, मध्य एशिया से आये हुए आक्रमणकारी समूहों की संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति और पाश्चात्य संस्कृति का आपस में काफी सम्मिश्रण हुआ है। इन संस्कृतियों का भारतीय समाज एवं संस्कृति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। विविधता के बावजूद भारतीय समाज में मौलिक एकता भी दिखाई पड़ती है जिसका अनुभव न केवल भारतीय बल्कि विदेशी भी करते हैं। ऐसे विविधता पूर्ण एवं जटिल भारतीय समाज को समझना और वैज्ञानिक तरीके से उसका अध्ययन एवं उस पर शोध करना कठिन है। इस कार्य के लिए भारतीय समाज के विकास का ऐतिहासिक कार्यक्रम का पता लगाना और विभिन्न कालों में लोगों के मूल्यों, लोक रीति-रिवाजों, व्यवहारों उनके तरीकों एवं जनजीवन विधियों को समझना होगा।

भारतीय समाज विश्व के प्राचीनतम समाजों में से एक है। यहाँ के विचार को चिंतकों ने अपनी साधना और अध्ययन चिंतन तथा अनुभव के आधार पर मानव संस्कृति का निर्माण किया एवं जीवन मूल्यों का विकास किया। भारतीय समाज की विकास प्रक्रिया को समझने के लिए भारतीय धर्म ग्रंथ, ऐतिहासिक ग्रंथ, पुरातत्व संबंधी साक्ष्यों, विदेशियों के विवरण एवं मध्यकालीन फारसी तथा अरबी साहित्य प्रमुख हैं। प्राचीन धर्म ग्रंथों की सहायता से भारतीय समाज के विकास का अध्ययन किया जाता है। समाज आज वैसा नहीं है जैसा प्राचीन काल में था, समय के साथ-साथ इसमें भी परिवर्तन आये हैं। इनकी कला, साहित्य, संस्कृति, प्रमुख संस्थाएँ, परंपराएँ, परिवार एवं आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन आये है। भारतीय समाज का भी समय के विकास हुआ है और इन विकास की जानकारी धर्म ग्रंथों ऐतिहासिक एवं सामाजिक ग्रंथों विदेशियों के विवरण पुरातात्विक साक्ष्यों से प्राप्त होती है।

भारतीय समाज पहले किसी भी वर्ग या वर्ण व्यवस्था में विभाजित नहीं था। "भारत के आदमी मनुष्यों के बीच कोई वर्ग-विभाजन नहीं था और न ही कोई राजतंत्रीय संस्थाएं ही थी। वे कुलों

और कबीलों में संगठित थे। कबीले का एकक कुल या गोत्र था जिसका एक सामान्य पूर्वज होता था। हर कुल की एक लोकतांत्रिक समिति होती थी जो अपने मुखिया को सुनती थी एक कबीले में कई कुल होते थे।"[2] भारतीय समाज में वर्गों या जातियों में विभाजित होने के प्रमाण नहीं मिलते हैं। इस सभ्यता के विनाश या विलुप्त होने के बाद वैदिक सभ्यता का प्रारंभ होता है। भारतीय समाज चार वर्णों में विभाजित है जिसका उल्लेख सर्वप्रथम-

"ब्राह्मणोअस्य मुखमसीद बाहु राजन्य: कृत:

उरू तदस्य यद् वैश्य: पदोभ्याम शूद्रो अजायत।

अर्थात ब्राह्मण की उत्पत्ति प्रजापति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की बाहु से, वैश्य की जंघा से और शूद्रों के उत्पत्ति पैरों से हुई है।"[3] भारतीय इतिहास में देखते हैं कि सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से ही वर्ण व्यवस्था के चिह्न दिखाई पड़ते हैं जो कि उत्तर वैदिक काल में भारतीय समाज में पूर्ण रूप में प्रस्तुत होते हैं। वर्ण एवं जातियाँ एक नहीं है प्रत्येक वर्ण में अनेक जातियाँ और उपजातियाँ होती हैं। वर्ण हिंदू समाज के चार बड़े भाग हैं, जबकि जातियाँ विशिष्ट अंत: विवाहित समूह भारत में समान रूप से पाए जाते हैं। इतिहास पर नजर डाले तो कुछ निम्न जातियों के शासन भी रहे है लेकिन यह कुछ ही क्षेत्रों तक सीमित रहा है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि समाज में जहाँ संपन्न एवं आर्थिक रूप से मजबूत है तो वह भी शासक वर्ग का कार्य करते थे। लेकिन शूद्र वर्ण आर्थिक और सामाजिक रुप से निचले स्तर पर होने के बावजूद उसमें संपन्नता एवं शासक वर्ग बहुत ही कम मिलते है। "जाति शब्द 'जात' से बना है, जिसका अर्थ होता है-जन्म। और वर्ण का अर्थ रंग होता है। इस प्रकार जाति-व्यवस्था का आधार जन्म और शरीर का रंग प्रतीत होता है। भारतीय साहित्य में 'वर्ण' और 'जाति' दोनों ही शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। किंतु प्राचीन साहित्य में 'वर्ण' शब्द का उल्लेख पहले और 'जाति' शब्द का बहुत बाद में आया है।"[4] सामाजिक व्यवस्था का ही एक अंग आश्रम व्यवस्था भी थी। भारतीय विचारक ने मनुष्य की आयु लगभग सौ वर्ष मानी, उनको चार भागों में

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में विभक्त किया। इन चारों आश्रमों में क्रम से रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करता है।

वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था एवं आश्रम व्यवस्था के साथ-साथ जाति प्रथा भी देखने को मिलती है। जाति प्रथा का विकास भारतीय समाज में हिंदू धर्म के कारण माना जाता है। जाति भारतीय समाज की महत्त्वपूर्ण व्यवस्था है। भारतीय वर्ण व्यवस्था ने न सिर्फ यहाँ के समाजों को विभिन्न जातियों जनजातियों में बाँटा है बल्कि बाहर से आये अन्य धर्मों पर भी जाति व्यवस्था का प्रभाव देखने को मिलता है। "धर्म सामाजिक आचरण की धार्मिक, नैतिक अवधारणा थी। आम जनता के लिए कोई सामान धर्म निर्दिष्ट नहीं था। शूद्र का धर्म ब्राह्मण के धर्म से भिन्न था। जैसा कि धर्म शास्त्रों में कहा गया था, धर्म 'चार वर्णों और चार आश्रमों से निर्मित सामाजिक व्यवस्थाओं की संगठन इकाइयों के अलग-अलग कर्तव्यों और दायित्वों का योग' था। इन वर्णों, आश्रमों और कर्तव्यों की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य था, क्योंकि ये अति पवित्र थे।"[5] भारतीय समाज में जाति व्यवस्था के प्रादुर्भाव के बाद प्रत्येक जातियाँ एवं उपजातियाँ अपने ही समाज के लोगों के साथ रहन-सहन, खानपान, रीति-रिवाज, धार्मिक एवं सामाजिक कार्य किया करते थे। जाति व्यवस्था ने समाज में एक बहुत बड़ी खाई का काम किया था जिससे जन्म के आधार पर व्यक्ति के व्यवसाय एवं कर्तव्य निर्धारित थे। वह उन्हें क्षमता के आधार पर बदल नहीं सकता था जिससे व्यक्तियों का शोषण सामाजिक स्तर पर, राजनीतिक स्तर पर, धार्मिक स्थल पर किया जाता था। जाति व्यवस्था ने समाज में ईर्ष्या, द्वेष और संघर्ष का समुदाय बना दिया है जिससे व्यक्ति एवं समाज के विकास के अवरोध का मुख्य कारण जाति व्यवस्था का होना माना जाता है।

मध्यकाल में भारतीय समाज पर इस्लाम का प्रभाव देखने को मिलता है। 12वीं सदी तक उत्तरी भारत में अनेक वंशों का शासन रहा, लेकिन इसके बाद मुस्लिम शासकों का प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता गया। 11वीं सदी में मोहम्मद गोरी ने दिल्ली पर आक्रमण किया और पृथ्वीराज चौहान को हराकर मुस्लिम शासक की नींव रखी। धीरे-धीरे राजाओं की शक्ति कम हुई और मुस्लिम शासकों का

प्रभाव बढ़ता गया। मुगल मुसलमानों का पृथक अस्तित्व रहा क्योंकि दोनों के धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज, खानपान एवं जीवन दर्शन में विभिन्नता है। हिंदू और मुसलमान संस्कृति के संपर्क के कारण कला, धर्म, संस्कृति, परिवार, विवाह, संगीत, साहित्य कई क्षेत्र में दोनों ने बहुत आदान- प्रदान किया। उनका मुख्य उद्देश्य शासन करना था लेकिन सत्ता के अधीन धर्म और संस्कृति का प्रभाव जनता पर पड़ता है जिससे सत्ता से प्रभावित जनता ने धर्म और संस्कृति को स्वीकार किया इसलिए भारतीय समाज में कई संस्कृतियों एक ही साथ दिखाई देती हैं। "यह आश्चर्यजनक सत्य पर हमारा ध्यान जाना चाहिए, कि इस्लामी राज्य की उन सदियों में, जब मुसलमान राजपूत, मुसलमान गुर्जर, मुसलमान जाट, मुसलमान जुलाहा, मुसलमान तेली, मुसलमान नाई जैसी धर्म परिवर्तित जातियों का तो जन्म हुआ, पर मुसलमान चमार ने जन्म नहीं लिया।"[6] मुस्लिम समाज में वर्ग भेद नहीं है लेकिन भारतीय समाज में भी मुस्लिम समाज आकर अपने आपको वर्गों में विभेद कर लेता है। भारतीय समाज का प्रभाव मुस्लिम समाज पर दिखाई देता है हिंदू समाज पर भी मध्यकालीन भारत में जाति, धर्म एवं व्यवसाय के आधार पर विभाजन था। वर्ण व्यवस्था के अनुसार यह समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के मध्य विभाजित था सबसे निम्न वर्ग शूद्र में शामिल थे। इस्लाम के प्रभाव के कारण भारतीय समाज से धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सभी क्षेत्रों में प्रभावित हुआ और यह प्रभाव ब्रिटिश काल तक बना रहा। केवल हिंदुओं ने ही इस्लाम स्वीकार नहीं किया बल्कि मुसलमानों ने भी हिंदू संस्कृति के अनेक पंथों को स्वीकार किया। जिससे साथ-साथ रहते दोनों में एक दूसरे के लिए क्रूरता कम हुई। भक्ति, श्रद्धा, सहृदयता, दयालुता पैदा हुई। मुस्लिमों ने भी हिंदुओं के खानपान जाति प्रथा, अंधविश्वासों से भी प्रभावित हुए। इस प्रकार दोनों संस्कृतियों के संपर्क से नवीन संस्कृति हिंदू-मुस्लिम संस्कृति का जन्म हुआ। राजा, महाराजों के रियासत होती थी जिसमें सामंत और जमींदार होते थे सामंत और ज़मीदार भी दलित समाज का शोषण करते थे "सामंत वर्ग नाम मात्र के पारिश्रमिक या बिना पारिश्रमिक के ही न शूद्र वर्गीय जातियों के लोगों को दुर्ग बनाने, प्रासाद बनाने और अन्य कार्यों में मजदूरी पर लगा लेते थे। यह प्रवृत्ति आगे चल कर बेकार के रूप में विकसित होकर अछूतों और

निम्न शूद्र वर्गीय जातियों के पाँवों की बेड़ियां बन गईं, जिनसे मुक्त सामंती है शासन के अंत के बाद भी मिल सकी।"[7] मध्य काल के बाद भारतीय समाज पर ब्रिटिश शासन का प्रभाव पड़ता है। लंबे समय तक अंग्रेजों के संपर्क में रहने के कारण भारतीय समाज पर पाश्चात्य का प्रभाव बहुत दिखाई देता है। ईसाई मिशनरियों ने भारत में उनके कार्य अंग्रेजी शिक्षा, अस्पताल एवं ईसाई धर्म से भी भारतीय जनता बहुत प्रभावित हुई। खासकर निम्न वर्गों एवं जनजातियों के क्षेत्रों में इसका प्रभाव देख सकते हैं। आधुनिक युग आते-आते भारतीय समाज में जो निम्न वर्ग में भी विरोध के स्वर देखने को मिलते हैं। जिनमें कई आंदोलन देख सकते हैं। "इस काल में जिस प्रकार के धार्मिक शक्तियों का उदय हुआ, उसने धीरे-धीरे जाति व्यवस्था की रीढ़ तोड़ दी। इसी काल में ही समाज-सुधार के आंदोलन भी प्रारंभ हुए। डॉ. अम्बेडकर, ज्योतिबा फुले और रामास्वामी पेरियार ने दलित समाज को हिंदू अन्याय से परिचित करावाया, वहीं ईसाई धर्म प्रचारकों ने अछूतों के लिए शिक्षा के द्वार खोल दिए। यह काल दलित जागरण की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है, क्योंकि इसी काल में दलित वर्ग को मानवीय गरिमा का बोध हुआ।"[8] अंग्रेजों के प्रभाव के कारण जाति नियम कमजोर हुए, छुआछूत कम हुए, जातियों के वंशानुगत व्यवस्था समाप्त होने लगे और जातियाँ भी शिथिल हुई। अंतर-जाति विवाह होने लगे जाति प्रथा भी कमजोर हुई।

आधुनिक काल में निम्न जातियों के कई आंदोलनों एवं कई संस्थाएं बनी। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, सत्यशोधक समाज इन समाजों ने धार्मिकता के आधार पर सामाजिकता के आधार पर अंधविश्वास के आधार पर सामाजिक संरचना में आ रही बुराइयों पर कुठाराघात किया। नारायण गुरु 1854 से 1928 ने दलितों के लिए मौखिक नहीं जमीनी स्तर पर काम किया एवं कई मंदिर बनवाए। जिनमें सभी वर्णों के लिए उनके दरवाजे खुले थे। "मध्य काल के विषय में मुस्लिम शासकों में हिंदू दमन का प्राच्यवादी आख्यान राष्ट्रवादी और फुले की विचारधाराओं में भिन्न-भिन्न आशयों से निरूपित हुआ। वास्तव में दोनों प्रतिक्रियाएँ एक ही ज्ञानमीमांसा की उपज थीं। समाज और धर्म सुधार आंदोलन में भी औपनिवेशिक आधुनिकता की अंतर्विरोधी फलश्रुतियों को देखा जा

सकता है। ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज और धर्म सुधार आंदोलनों द्वारा उपनिषद आदि उच्च संस्कृत पाठों की पुनर्व्याख्या के विरुद्ध फुले के सत्य शोधक समाज ने समाज और धर्म सुधार की अलग परिकल्पना रखी।"[9] ज्योतिबाराव फुले ने सत्यशोधक समाज की स्थापना की। उनका उद्देश्य समाज के कमजोर वर्ग को सामाजिक न्याय दिलाना। उन्होंने सभी वर्णों के अनाथ बच्चों तथा स्त्रियों के लिए पाठशाला खोले और अनाथालय खोलना। समाज में यह कार्य एक क्रांति के रूप में देखा जा सकता है। नारायण गुरु ने एक नारा दिया-मानव के लिए एक धर्म एक जाति और एक ईश्वर। मतलब भारतीय समाज या यू कहे हिंदू समाज जो चतुर्थ वर्ण अनेक देवी, देवताओं, अंधविश्वासों कर्मकांड में उलझा हुआ था। उस आधार पर एक धर्म एक जाति और एक ईश्वर की बात इसमें समानता की बात दिखाई देती है।

भारतीय समाज प्राचीन समाजों में से एक है। यह समाज हमेशा से अपने अंदर आ रही कमियों को दूर करता है। मनुष्य के लिए जो चीजें बेहतर हैं उनको स्वीकार करता है। उसका एक ही ध्येय है मानव कल्याण। इसी उद्देश्य से हमेशा अपने विचार और व्यवहार करता है। भारतीय समाज और संस्कृति के विभिन्न पक्षों में अनेकता के दर्शन दिखाई देते हैं, जिसमें क्षेत्र के जातिगत, प्रजातिगत तथा धार्मिक विभिन्नता संपूर्ण समाज में व्याप्त है, इसीलिए भारतीय समाज को इन्द्रधनुष की संज्ञा दी जाती है। भारतीय संस्कृति में विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों का अनुपम समन्वय देखने को मिलता है। इनमें सैकड़ों जातियाँ उपजातियाँ देखने को मिलती है। विभिन्न भाषा-भाषी लोग भी हैं साथ ही अनेक धर्मों का जन्म स्थल भी है। यहाँ हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध आदि धर्मो के लोग निवास करते है। आज यह देश भोगौलिक दृष्टि से भी अनेक क्षेत्रों में बाँटा है जलवायु संबंधी भिन्नता भी कम नहीं है। साथ ही लोगों के रहन-सहन खान-पान तथा वेशभूषा में भी कई प्रकार की विधाएँ दिखाई पड़ती है। ग्रामीण और नगरीय लोग परंपरावादी के साथ-साथ आधुनिक कहे जाने वाले वेशभूषा और खानपान स्वीकार कर रहे है। लेकिन ग्रामीण परिवेश में आज भी भारतीय समाज की छवि देखने को मिलता है। विभिन्न नृत्य शैलियों के अतिरिक्त तुर्की, ईरानी, भारतीय, पाश्चात्य, चित्रकला, मूर्तिकला

और वास्तुकला के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, स्तूप आदि कला की भिन्नताओं का सरलता से पता लगाया जा सकता है। भारतीय समाज के कुछ सूक्ति भी हैं जैसे- सादा जीवन उच्च विचार, यह सूक्ति वाक्य मनुष्य को उनके जड़ से जोड़ें रखता है और विचारों से उन्नति की ओर अग्रसर करता है। वसुदैव कुटुंबकम, प्रत्येक प्राणी को विश्व कुटुंब का सदस्य स्वीकार करता है तथा विश्व को एकता के सूत्र में बांधने का पाठ पढ़ाता है। भारतीय समाज और संस्कृति के ऐसे आदर्श विचार सदैव एकता को बनाए रखते हैं। भारतीय संस्कृति कर्म को बहुत अधिक महत्व देती है और प्रत्येक कर्म को अच्छे और बुरे दो वर्गों में विभक्त करती है। जिससे अच्छे कर्म करने वाले व्यक्ति को श्रेष्ठ और निम्न कर्म करने वाले को बुरा व्यक्ति कहा जाता है। इसको पुनर्जन्म से भी जोड़ा जाता है इसीलिए भारतीय समाज के लोग हमेशा अच्छे कर्म करने के लिए ही प्रेरित होते हैं। भारतीय समाज एवं संस्कृति की एक विशेषता यह है कि इसका संबंध किसी एक व्यक्ति, वर्ग, धर्म या किसी एक व्यक्ति से नहीं होकर समाज के सभी पक्षों से है और इसके निर्माण में राजा, किसान, मजदूर, शिक्षित, शूद्र, ब्राह्मण आदि सभी का योगदान रहा है। भारतीय संस्कृति में कहा गया है सर्वे भवंतु सुखिना: अर्थात सभी सुखी हो। भारतीय समाज और संस्कृति की कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं इन्हीं कारणों से भारतीय समाज सदैव एकता रही है और भारतीय संस्कृति की ज्योति हमेशा विश्व पटल पर दिखाई देती है।

## 1.2 समाज अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ:

समाजशास्त्र में मनुष्य के व्यवहार अथवा मनुष्य के मध्य अंतर क्रियाओं के सामाजिक संबंधों एवं प्रक्रियाओं का अध्ययन है। जिनके द्वारा मानव समूह की गतिविधियाँ संचालित होती हैं। जीवित रहने के लिए सभी मनुष्य एक दूसरे के साथ अंतःक्रिया करते हैं। अरस्तु ने कहा-'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' उसका स्वभाव और आवश्यकताएँ दोनों ही उसे समाज में रहने के लिए प्रेरित करती है। समाज में मनुष्य का व्यवहार हमेशा समुदाय के सापेक्ष निर्धारित होता है। मनुष्य अनादि काल से ही इन शक्तियों को समझने नियंत्रित करने का प्रयास करता आया है। यह स्वाभाविक ही था

कि मनुष्य सामाजिक घटनाओं की अपेक्षा प्राकृतिक घटनाओं को समझने तथा उन पर नियंत्रण करने का प्रयत्न प्रारंभ में ही किया जिसमें उसे सफलता मिली। क्योंकि प्राकृतिक घटनाएँ स्थूल थी और वह उन्हें एक निष्पक्ष दर्शक के रूप में अच्छी प्रकार देख और पढ़ सकता थी। मनुष्य एक सामाजिक दायरे में रहने लगा और फिर उन पर अपने क्रियाओं के द्वारा एक दूसरे को प्रभावित करने लगा जब यह एक समुदाय और एक बड़े समूह में बदल गया तो इस पर भी अध्ययन होने की एक जरूरत पड़ी इसी अध्ययन को समाजशास्त्र का रूप दिया गया लेकिन किसी भी विषय को समझने के लिए उसके कुछ सिद्धांत होते हैं उन्हीं सिद्धांतों की बात समाजशास्त्र भी करता है। "प्राकृतिक दुनिया और सामाजिक या सांस्कृतिक दुनिया में दो मुख्य अंतर हैं। पहले तो प्राकृतिक दुनिया का पर्यवेक्षण और उसकी व्याख्या केवल बाहर से की जा सकती है जबकि मानव गतिविधि की दुनिया का पर्यवेक्षण और उसकी समझ भीतर से प्राप्त की जा सकती है। यह इसलिए हमारी समझ में आती है क्योंकि हम भी इसी संसार के हिस्से में है और अपने ही समान दिमागों की रचना का हमें अध्ययन करना पड़ता है। दूसरे प्राकृतिक दुनिया की परिघटनाओं के बीच का संबंध कार्यकारण का यांत्रिक संबंध है जबकि मानवी दुनिया की परिघटनाओं के बीच का संबंध मूल उद्देश्य का संबंध है।"[10]

समाज को समझने के लिए सिध्दांत की जरूरत होती है उसी सिध्दांत को पद्धति करते हैं। समाजशास्त्र अभी अपने शैशवकाल में है इसने अभी कोई सामाजिक पद्धति नहीं विकसित की है अतः वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर ही इनका विश्लेषण किया जाता है। "सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने में समाजशास्त्री कई पद्धतियों का प्रयोग करते हैं चैपिन (Chapin) के अनुसार समाजशास्त्र की तीन प्रमुख पद्धति है- ऐतिहासिक पद्धति, सांख्यिकी पद्धति तथा पर्यवेक्षण पद्धति। एलवुड (Ellwood) ने पांच पद्धतियों का जिक्र किया है- मानवशास्त्रीय या तुलनात्मक पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, सर्वे पद्धति, निगमन पद्धति, तथा दार्शनिक पद्धति। हार्ट (Hart) ने भी पांच पद्धतियों का जिक्र किया है। ये हैं- सहजबुद्धि पद्धति, ऐतिहासिक पद्धति, संग्रहालय सर्वेक्षण पद्धति, प्रयोगशाला या प्रयोगात्मक पद्धति तथा संघ की पद्धति।"[11]

समाज अध्ययन की पद्धतियों में प्रमुख वैज्ञानिक पद्धति है जिसमें पर्यवेक्षण, प्रलेखन, वर्गीकरण, कल्पना, सत्यापन एवं पूर्व कथन करते हैं। पर्यवेक्षण का अर्थ होता है वस्तुओं को ध्यान पूर्वक देखना पर्यवेक्षण दो प्रकार का होता है पहला- स्वाभाविक दूसरा- नियंत्रित। स्वाभाविक परीक्षण वह होता है जिसमें समाज द्वारा घटित घटनाएं शुद्ध होती है। लेकिन नियंत्रित परीक्षण वह है जिसमें एक परिस्थितियाँ बनाते हैं और उन्हें आधारों पर आगे वह घटनाएं होती रहती हैं। जो सुचारू रूप से चलाते हैं इसे नियंत्रित परीक्षण करते हैं। सर्वेक्षणों के आंकड़ों को लेखबद्ध करना ही प्रलेखन कहलाता है। वर्गीकरण का मतलब समान विशेषताओं वाले तथ्यों को एक वर्ग में रखना। इसके बाद उपकल्पना अर्थात वर्गीकरण करने के बाद जो चीजें समझ में आते हैं उनको लिपि बंद करना। अंतिम कार्य पूर्व कथन का होता है जिसमें हम तथ्यों के पर्यवेक्षण के आधार पर निर्मित सामान्य सिद्धांत बनाते हैं। यही पूरी प्रक्रिया वैज्ञानिक या प्रयोगात्मक पद्धति के अंतर्गत आती है वैज्ञानिक पद्धति के विषय में विद्या भूषण जी लिखते हैं कि -"समाजशास्त्र में प्रयोगात्मक पद्धति को प्रत्यक्ष रूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि मानव-व्यवहार बड़ा जटिल होता है जिसे पर्यवेक्षक, तुलना तथा प्रयोग के लिए नियंत्रित अवस्था में ला पाना कठिन होता है। परंतु अप्रत्यक्ष रूप से तथ्यों का परीक्षण करके, उनका वर्गीकरण करके तथा उनके बीच अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करके, उनकी अस्थायी व्याख्या करके, उस अस्थायी व्याख्या का सत्यापन करके, सामान्य समाजशास्त्र सिद्धांतों का निर्माण करके तथा इन सिद्धांतों के आधार पर पूर्वकथन करके समाजशास्त्र प्रयोगात्मक पद्धति का प्रयोग अवश्य करता है।"[12] उपरोक्त व्याख्या से यह विदित होता है कि समाजशास्त्र में स्वाभाविक पर्यवेक्षण का अध्ययन कर सकते हैं क्योंकि घटनाएं जो समाज में घटित हो रही हैं, उनको अप्रत्यक्ष रूप से जानकर, देखकर, पढ़कर, उनके द्वारा सिद्धांत गठित कर सकते हैं। लेकिन मानव इसके केंद्र में होता है इसलिए नियंत्रित परीक्षण उस पर नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्ति का स्वभाव कैसा है, और वह कैसा व्यवहार करेगा यह किसी को भी नहीं पता। इसलिए समाजशास्त्र स्वाभाविक पर्यवेक्षण को मानता है और उन्हीं सिद्धांतों पर अपनी व्याख्या करता है। समाजशास्त्र के अंतर्गत ऐतिहासिक पद्धति भी मानी जाती

है। "ऐतिहासिक पद्धति में भूतकालीन में सभ्यताओं की घटनाओं, प्रक्रियाओं और संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है, ताकि वर्तमान सामाजिक जीवन के आरंभ तथा उसकी प्रकृति एवं कार्यविधि का ज्ञान हो सके। इतिहास और समाज का परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है कि जी. ई. हावर्ड (G. E. Howard) जैसे कई समाजशास्त्री इतिहास को भूतकालीन समाजशास्त्र और समाजशास्त्र को वर्तमान इतिहास मानते हैं स्पष्ट है कि हमारे सामाजिक जीवन के आधुनिक रूप (Forms) हमारे रिवाज अथवा जीवन यापन की विधियों (Way of Living) की जड़ें अतीत से जुड़ी हुई हैं। इसलिए इनकी व्याख्या इनकी मूल स्रोतों की सहायता से ही की जा सकती है और ऐसा केवल इतिहास के सहयोग से ही संभव है।"[13] समाजशास्त्र की यह पद्धति इतिहास के तथ्यों पर टिकी हुई है। जिसमें मानव समाज की जीवन चरित्र को इतिहास से देखते हैं और उनका समाजशास्त्रीय ढंग से विश्लेषण करते हैं। लेकिन सबसे बड़ा संदेह यह है कि जिन तथ्यों को हमने इतिहास से प्राप्त किया है क्या यह पूर्णत: सत्य हैं या आंशिक सत्य है। इसकी जाँच परख नहीं हो सकती है। इसलिए समाजशास्त्री ढंग से अगर हम किसी भी जीवन चरित्र को उठाते हैं और उनका विश्लेषण करते हैं और बाद में वह असत्य सिद्ध होता है तो यह पूरी प्रक्रिया विफल मानी जाएगी। भारतीय साहित्य या अन्य विषय जो मानव समाज से संबंधित हैं उनमें सबसे लोक प्रचलित समाजशास्त्री पद्धति तुलनात्मक पद्धति है जिसमें गुणों के आधार पर समान एवं भौगोलिक रूप समान, वस्तुगत रूप से समान समाज के अंतर एवं समानता का विश्लेषण करते हैं। "समाजशास्त्री एक भौतिक विज्ञानवेत्ता की भाँति किसी प्रयोगशाला में किसी विशेष सामाजिक घटना के संदर्भ में प्रयोग पद्धति और उसकी सारी अवस्थाओं जैसे पर्यवेक्षण, वर्गीकरण, उपकल्पना, सामान्य सिद्धांत निरूपण आदि का समुचित प्रयोग नहीं कर सकता। परन्तु समाजशास्त्री तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करके विश्व- प्रयोगशाला में प्रयोग अवश्य कर सकता है। इस पद्धति में विभिन्न प्रकार के समूहों या व्यक्तियों की तुलना की जाती है, जिससे उसके रहन-सहन के ढंग की विविधता एक-रूपता का पता चलता है और इस प्रकार मानव के सामाजिक व्यवहार के प्रमुख लक्षणों का ज्ञान प्राप्त होता है।"[14] यह पद्धति शोध के लिए सबसे लोकप्रिय पद्धतियों में मानी जाती है

जिसमें समाजों और समुदायों, व्यक्तियों, स्थानों की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक विचारों का अध्ययन करते हैं। लेकिन यह पद्धति इतनी सरल नहीं है जितनी लगती है क्योंकि प्रत्येक समाज के भिन्न-भिन्न, रीति रिवाज, परंपराएं होती हैं। जैसे कि भारत में ही दक्षिण की परंपरा है पूर्वोत्तर भारत में नहीं मिलती और पूर्वोत्तर की परंपराएं उत्तर भारत में नहीं मिलती है। इसलिए यह पद्धति बहुत ही जटिल रूप में भारतीय परिपेक्ष्य में आती है।

तुलनात्मक पद्धति को बहुत दिनों तक समाजशास्त्र की सर्वोत्तम पद्धति माना जाता रहा है "समाजशास्त्री व्याख्या का 'एकमात्र मतलब कार्य कारण संबंधों की स्थापना है', इसके बाद उसने कहा कि एक परिघटना किसी दूसरी पर घटना का कारण है इसे दिखाने का एकमात्र तरीका यह है कि ऐसे मामलों की परीक्षा की जाए जिसमें दो परियोजना एक ही साथ उपस्थित या उपस्थित हों और इस तरह देखा जाए कि एक पर दूसरी निर्भर है अथवा नहीं। अनेक प्राकृतिक विज्ञान में कार्य-कारण संबंध प्रयोग के आधार पर स्थापित किए जाते हैं लेकिन चूंकि दुर्खीम के मुताबिक समाजशास्त्र में प्रयोग करना असंभव है इसलिए यहां अप्रत्यक्ष प्रयोग की पद्धति अर्थात तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग करना पड़ता है।"[15] तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग समाजशास्त्र में वैज्ञानिक ढंग से नहीं किया जा सकता है।इसका प्रयोग समाज या समुदाय में निवास करने वाली जनता पर ही किया जाता है। इस स्थिति में आंतरिक एवं वाह्य परिवर्तनों को देखकर किया जाता है। "तुलना उन्हीं समाज के बीच की जाए जो व्यापक तौर पर समान हों यानी किसी पूर्व वर्गीकरण के द्वारा जो समाज एक ही प्रकार के निर्धारित हो चुके हों। दरअसल तो वर्गीकरण के लिए यह तुलना की जरूरत पड़ती है लेकिन अत्यंत व्यापक और सामान्य स्तर की। तब परिकल्पना की परीक्षा के लिए विस्तृत तुलना इस आश्वासन के साथ की जा सकती है कि तुलना की इकाइयां पूरी तरह बेमेल नहीं हैं या गलत नहीं समझी गई हैं। वस्तुतः लगता है कि इसी तरह तुलनात्मक पद्धति का सर्वाधिक सफल प्रयोग हुआ है।"[16] समाजशास्त्र में तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग बहुत ही सावधानी पूर्व करने की सलाह दी गई है। तुलना किसी भी वस्तु किसी भी

समाज की तब करते हैं जब मैं गुणधर्म बराबर हो या कुछ धर्म मिलते हैं। कभी भी बेमेल गुणधर्म के तत्वों या समुदायों का तुलना नहीं करते हैं।

समाजशास्त्रियों ने प्रकार्यवाद पद्धति के द्वारा समाज को विश्लेषण करने का प्रयास किया है। "इस पद्धति के अंतर्गत समाज के किसी भाग को उसके कार्यों, न कि उद्भव अथवा उपयोगिता के अर्थ में समझने का प्रयास किया जाता है। दूसरे शब्दों में, प्रकार्यवाद सामाजिक संस्थाओं, यथा परिवार, वर्ग, राज्य, धर्म आदि का अध्ययन उसके द्वारा किये गए कार्यों के दृष्टिकोण से करता है यह समाज के विभिन्न वर्गों का प्रकार्यात्मक विश्लेषण है।"[17] दुर्खीम प्रकार्यवाद की सामाजिक संरचना और उसके संगति के विचारों को प्रकट किया है- "सिद्धांत के बतौर प्रकार्यवाद पर विचार करते हुए पहले ही यह दिखाया जा चुका है कि समाज और किसी जीव के बीच तुलना से कोई दिक्कतें उठ खड़ी होती हैं और संस्थाओं के 'सामान्य' और 'असामान्य' कार्य संपादन के बीच भेद करने के दुर्खिम जैसे प्रयासों में क्या कठिनाइयां हैं। प्रकार्यवाद में जो सैद्धांतिक अपूर्णताएं हैं उनसे की पद्धति पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकती; फिर भी इसमें कुछ विशेषताएं हैं जिन पर हम अलग से विचार कर सकते हैं।"[18]

समाज अध्ययन की अगली पद्धति प्रतिकूल निगमन पद्धति है जिस का सर्वप्रथम प्रयोग जे. एस. मिल ने किया था "सामाजिक जीवन के विभिन्न तत्वों में परस्पर संबंध होता है। टेलर द्वारा प्रस्तुत पद्धति का प्रयोग करके हम पता लगाते है कि सामाजिक जीवन के कौन-कौन से तत्वो में कार्य-संबंधी परस्पर संबंध है। जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं कि टेलर ने आदिम व्यक्तियों के परिवार से संबंधित संस्थाओं एवं रीति-रिवाजों के तुलनात्मक तथा सांख्यिकी अध्ययन (Statistical Study) के इस पद्धति का प्रयोग किया था और हमें यह बताया था कि सास-परिहार का रिवाज मातृत्व-प्रधान परिवार-व्यवस्था से संबंधित है।"[19] इस पद्धति में एक कार्य दूसरे कार्य पर निर्भर होता है जिसे कार्य कारण सिद्धांत भी कहते हैं। इस प्रकार जीवन की कोई एक घटना जीवन की किसी दूसरी घटना से प्रभावित होता है या संबंधित होता है। इसमें नियम सामाजिक घटनाओं की व्याख्या

विश्लेषण नहीं करते हैं सांख्यिकीय के अधिक निकट प्रतीत होते हैं जबकि समाजशास्त्र सामाजिक मनोविज्ञान के मानव जीवन के विकास को संचालित करती हैं। इस प्रकार यह पद्धति प्रतिकूल निगमन विधि का प्रयोग करता है जो तुलनात्मक पद्धति द्वारा प्राप्त भावनात्मक सामान्य कारणों के परम मूल्यों से प्राप्त निगमन का मिश्रण रूप है।

मैक्स पेपर और दुर्खीम ने सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करने हेतु आदर्श प्रकार पद्धति का सहारा लिया है। किसी व्यक्ति समाज का एक आदर्श स्वरूप स्थापित करते हैं और उसी आदर्श स्वरूप के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का विश्लेषण करते हैं। लेकिन इस आदर्श पद्धति की एक बड़ी कठिनाई यह है कि किसी भी समाज के लिए एक आदर्श स्वरूप स्थापित करना अपने आप में ही बहुत कठिन कार्य है। अगर यह कार्य कर भी लेते हैं कि व्यक्ति और समाज का एक आदर्श स्वरूप स्थापित कर लेते हैं तो दूसरी सबसे बड़ी समस्या इस पद्धति की यह आती है कि समाज निरंतर परिवर्तनशील है जब समाज में परिवर्तन होगा तो उसके आदर्शों में परिवर्तन आएगा। जो पुराने आदर्श स्थापित हैं फिर वह जो नए परिवर्तनों के साथ टकराएंगे तो पद्धति में अवरुद्ध उत्पन्न होगा या विद्रोह उत्पन्न हो सकता है इसलिए यह पद्धति कारगर नहीं सिद्ध जान पड़ती है जैसा कि भारतीय समाज भी कई मतों में बाँटा हुआ है कई समाजों में बँटा हुआ है तो इसमें भी इस पद्धति का प्रयोग करना बहुत ही जटिल कार्य होगा।

समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए "सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग सामाजिक घटना-वस्तु गणितीय, आधार आंकड़ों की सहायता से नापने में किया जाता है बोगार्ड्स (Bogardus) के अनुसार, "सामाजिक सांख्यिकी मानव-तथ्यों में प्रयुक्त गणित है।" ओडम (Odum) ने लिखा है, "सांख्यिकी, जो घटना वस्तु को वस्तुनिष्ठ ढंग से नापने एवं गिनने का विज्ञान है, शोध का अनिवार्य केंद्रीय भाग है।" जेम्स स्मिथ (James Smith) ने लिखा है, सांख्यिकीय की पद्धति आंकड़ों एवं सांख्यिकीय सिद्धांतों के प्रयोग द्वारा तथ्यों की व्याख्या करने की प्रक्रिया है।" अतएव यह स्पष्ट है कि मात्राबोधक समस्यायों, यथा जनसंख्या की वृद्धि, जन्म और मृत्यु दर में कमी या वृद्धि, आय में

गिरावट, आदि समस्याओं के विश्लेषण में इस पद्धति का प्रयोग लाभदायक ढंग से किया जा सकता है।"[20] समाजशास्त्रीय शोधों में आंकडों पर महत्त्वपूर्ण बल दिया गया। वर्तमान समय में जैसे जनसंख्या, देशांतर, आर्थिक दशा में मानव पर्यावरण आदि का अध्ययन संख्या के आधार पर एकत्रित किया जाता है जिससे सांख्यकीय समाजशास्त्रीय शोध में बहुत ही आवश्यक कार्य है परंतु सांख्यिकी पद्धति का प्रयोग समाजशास्त्र के अर्थ में करने पर यह बड़ी कठिनाई है कि मानव समस्याएँ संख्यात्मक न होकर की गुणात्मक होती हैं अतः इस पद्धति का प्रयोग कुछ सीमित स्थानों पर ही किया जा सकता है।

"कुछ समाजशास्त्रियों ने ईर्ष्या, वर्ग-संघर्ष तथा सामाजिक सामंजस्य (Social Adjustment) आदि गैर-सांख्यिकी विषयों को नापने के लिए समाजमिति पद्धति का प्रयोग किया है। समाजमिति अंत: वैयक्तिक संबंधों में आकर्षण तथा विकर्ण की संख्यात्मक एवं रेखाचित्रात्मक (Diagrammatic) शब्दों में नापने की विधि है। यह पद्धति छोटू समूह की संरचनाओं, व्यक्तित्व के लक्षणों एवं सामाजिक प्रास्थिति के अध्ययन में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। यह लोगों की एक-दूसरे के प्रति भावनाओं का उद्घाटन करती है तथा अन्तक्रिया की विभिन्न तालिकाएं या नाप प्रस्तुत करती है। समाजमितिक परीक्षण, व्यक्तियों को कार्य-समूहों में इस प्रकार विभक्त करने में कि अधिक से अधिक अंत: वैयक्तिक तालमेल एवं कम से कम संघर्ष उत्पन्न हो, बहुत सहायक हो सकता है।"[21] यह पद्धति व्यक्ति के आंतरिक अनुभव का विश्लेषण करता है यह मनोविज्ञान के अधिक निकट प्रतीत होता है। लेकिन यह व्यक्ति के आचार व्यवहार विचार का विश्लेषण करता है इसलिए यह पद्धति समाजशास्त्र के लिए उपयुक्त पद्धति साबित होती है।

समाजशास्त्र एवं अन्य विषयों में सामाजिक सर्वेक्षण पद्धति सबसे लोकप्रिय पद्धति मानी जाती है। जिसमें समाज में जाकर सर्वेक्षण करते हैं जिसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, स्थितियों की पड़ताल करते हैं। इस पद्धति में किसी भी समाज में निवास करने वाली जनता का क्षेत्र निर्धारित रहता है जिससे हमें व्यक्तियों के रहन-सहन एवं कामकाज की अवस्थाओं का पता चल

जाता है जिससे संबंध में आंकड़े इकट्ठे करते हैं और कुछ सुझाव देते है उनकी दशा में सुधार हो सके और कल्याणकारी कार्य किये जायें। समाज उच्चतर स्तर को प्राप्त कर सके।

साक्षात्कार पद्धति प्रश्नावली पद्धति यह पद्धति जिसमें कुछ प्रश्नों को सुनते हैं और समूहों में जाकर हाँ या नहीं की उत्तर प्राप्त करते हैं और फिर इनका विश्लेषण एवं आकलन करते हैं यह पद्धति समाजशास्त्र के साथ-साथ अन्य विषय की शोधों के लिए भी प्रयुक्त की जाती है। लोकमत संग्रह पद्धति भी समाजशास्त्री एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है इसका प्रयोग उस भूभाग के लोगों का मत जानने के लिए किया जाता है जिससे उस क्षेत्र में कानून या नियम बनाया जा सके। "इस पद्धति का प्रयोग किसी विषय पर जनता की विचारों, उनकी भावनाओं एवं उनके दृष्टिकोणों का पता लगाने के लिए किया जाता है। अमेरिका में 'लोकमत-संग्रह' बड़ा प्रिय है। वहां सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक दशाओं पर लोकमत को जानने में प्राय इस पद्धति का प्रयोग किया जाता है। जनता संबंधित प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' 'नहीं' 'नहीं मालूम' में देकर अपने मत को प्रकट करती है।"[22] इस पद्धति का प्रयोग सत्ता, अधिकारी समाज में कानून व्यवस्था बनाने एवं समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए प्रयुक्त करते हैं जिससे वहाँ की आम जनता की जो भी आवश्यकताएँ होती हैं उसी अनुसार इन कानून और इन नियमों का निर्माण किया जाता है।

"समाजशास्त्र एक नई पद्धति है, अन्य सामाजिक विज्ञान जिन तथ्यों पर पहले विचार कर चुके हैं उन्हें देखने का एक नया तरीका है। वह नया दृष्टिकोण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अलग हटकर समाजीकरण या अंतःक्रिया के 'रूपों' पर विचार करने में निहित है; दूसरे वह कहता है कि इसलिए समाजशास्त्र अंत:क्रिया के उन रूपों पर विचार करता है जिनका ध्यान पारंपरिक सामाजिक विज्ञानों ने एकदम नहीं किया है।वह रूप राज्य, आर्थिक व्यवस्था इत्यादि बड़ी संस्थाओं में प्रकट नहीं होते बल्कि व्यक्तियों के बीच के छोटे और क्षणभंगुर संबंधों में प्रकट होते हैं।"[23] समाजशास्त्र मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के काफी नजदीक दिखाई पड़ता है लेकिन रूप गत पद्धति में यह सामाजिक संबंधों के प्राथमिक रूपों का अध्ययन एवं टकराव का दबाव देखने को मिलता है।

संरचनावाद पद्धति मानव समाज के सार्वभौम तत्वों की खोज इसका मुख्य लक्ष्य है। "इन दृष्टिकोण के प्रसंग में समाजशास्त्र की 'वैज्ञानिक प्रक्रिया' की बात करना किस हद तक न्यायोचित है? मुझे लगता है कि यह अनुशासन अपनी पद्धतियों और उद्देश्यों के तहत वैज्ञानिक है। इसकी पद्धति के महत्वपूर्ण लक्षण यह हैं :1. यह बच्चों को विचार करता है (उनके बारे में मूल्य निर्णय नहीं सुनाता); 2. यह वक्तव्यों के समर्थन में अनुसूचित प्रमाण प्रस्तुत करता है। 3. यह वस्तुनिष्ठ है (इस अर्थ में कि सबको अपने वक्तव्यों के आधारभूत प्रमाणों का ध्यान रखना पड़ता है)। अपने वैज्ञानिक उद्देश्य के तहत समाजशास्त्र का लक्ष्य है:1. किसी सामाजिक परिगणना के गुण धर्म और संबंधों के विशेषण के जरिए उसका सटीक वर्णन करना और 2. सामान्य वक्तव्यों के सुत्रीकरण के जरिए उसकी व्याख्या करना।"[24] समाजशास्त्र इस पद्धति के माध्यम से विज्ञान के और अधिक निकट होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। जिसमें तथ्य प्रयोग का अनुभव सिद्ध और वस्तुनिष्ठ और विवरणात्मक और व्याख्यात्मक विज्ञान की अंश दिखाई पड़ते हैं। समाजशास्त्र के अब ध्यान के लिए जिन पद्धतियों का प्रयोग करते हैं वह उपरोक्त कथनों में विवरणात्मक ढंग से प्रस्तुत किया जा चुका है। समाजशास्त्र की पद्धति के अध्ययन से क्या प्राप्त हो सकता है और क्या प्राप्त नहीं हो सकता है इन बातों पर भी चर्चा की जानी चाहिए।

"समाजशास्त्रीय गवेषणा की पद्धतियों से क्या हासिल हो सकता है और उसकी सीमाएं क्या हैं। सबसे पहले तो समाजशास्त्री अनुभवों पर आधारित आंकड़ों को इकट्ठा कर सकता है जिसके कारण व्यवहारिक मुद्दों पर पारंपरिक विचारों के मुकाबले ज्यादा तार्किक निर्णय ले पाना संभव होता है। दूसरा कभी-कभी वह किसी परिघटना की व्याख्या न भी दे सके तो उसके बारे में विवेक सम्मत भविष्यवाणी कर सकता है। तीसरा भाग कुछ सामाजिक परिघटनाओं की व्याख्या कर सकता है अर्थात उसके बारे में अधिक सामान्य वक्तव्यों के तहत कुछ वक्तव्यों की कल्पना कर सकता है। इसी अंतिम मामले में समाजशास्त्रीय पद्धति की सबसे गंभीर सीमाएं प्रकट होती हैं क्योंकि सामाजिक घटनाएं जटिल और अंत:संबंधित होती हैं और मानवीय क्रियाकलापों सृजनात्मक होते हैं।"[25] जिन

विभिन्न पद्धति और दृष्टिकोणों का विचार इस अध्याय में किया है। समाज के सामाजिक घटनाओं के विभिन्न स्तरों की जटिल से जटिल समस्याओं की पूरी की पूरी प्रक्रिया को समझने में सहयोगी सिद्ध होती है और यह समाज की विभिन्न घटनाओं के द्वारा इनका विश्लेषण और यथार्थ ढंग से खोजबीन करती है। साहित्य के समाजशास्त्र की आलोचनात्मक और प्रयोगात्मक दृष्टि की पद्धतियां ही लोगों को अपनी और आकर्षित करती हैं और इन्हीं के द्वारा समाज को समझने की एक दृष्टि देती हैं।

## 1.3 भारतीय समाज में दलित:

साहित्य के समाजशास्त्र का चिंतन फ्रांसीसी विचारक तेन से माना जाता है। मादाम स्पेन ने साहित्य के समाजशास्त्री चिंतन की परंपरा को आगे बढ़ाया पश्चिम के समाजशास्त्रीय उन्हें साहित्य के समाजशास्त्र के निर्माण एवं निरंतर विकास के लिए अपनी भूमिकाएं निभाई हैं। भारत में भी साहित्य के समाजशास्त्र को लेकर के मैनेजर पांडे, बच्चन सिंह, निर्मला जैन आदि लेखकों ने इस पर विचार किया और अपने मत स्पष्ट किये हैं। लेकिन भारत में साहित्य के समाजशास्त्र को समझने से पहले भारतीय समाज को समझना होगा, उसके साथ-साथ समाज को सुधारकों के द्वारा किये गये कार्यों को भी देखना जरुरी हो जाता है। जिसमें रामकृष्ण परमहंस, दयानंद सरस्वती, ज्योतिबा फुले, महात्मा गाँधी, डॉ. अंबेडकर, डॉ. राम मनोहर लोहिया आदि के द्वारा समाज में किये गए। जिनका भारतीय समाज के साथ-साथ साहित्य पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है।

### महात्मा गाँधी

महात्मा गाँधी के द्वारा स्वतंत्रता संग्राम और सामाजिक परिवर्तन के प्रयासों दिखाई पड़ते हैं। इस देश को गुलामी से मुक्त कराने और स्वाधीन देश बनाने में गाँधी का बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान है इससे नकारा नहीं जा सकता है। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जनता गाँधी के बातों पर भरोसा करती थी उसमें भी दो राय नहीं है इसीलिए भारतीय जनमानस में गाँधी के द्वारा सामाजिक, राजनीतिक और

धार्मिक सुधार के साथ सुझाव भी दिये थे और सांस्कृतिक चेतना का जो प्रयास है। वह समाज पर दिखाता है। समाज को परिवर्तित करने का जो क्रियात्मक रूप गाँधी में दिखाई देता है वह अन्य नहीं दिखाई देता। "गाँधी इस बात को मानते है कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने जीवन को सुधार लेने से ही समाज सुधर जाता है और उसमें प्रचलित बुराइयाँ दूर हो सकती है। अगर व्यक्ति का सुधार हो गया तो साथ-ही-साथ और अनिवार्य रूप से समस्त का सुधार हो जाता है इसलिए उनके सिद्धांत को क्रियात्मक रूप देना प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार में है। ऐसे लोग हिंदुस्तान में मिले है जो उनके विचारों से अपना जीवन परिवर्तित कर सके उसी अंश में उसका क्रियात्मक रूप देखा जा सकता है"[26] गाँधी के विचारों को देखे तो उनके यहाँ समाज को सुधार करने की जो प्रक्रिया है वह व्यक्ति की प्रक्रिया है कि अगर समाज के सारे व्यक्ति सुधर जाये और व्यक्ति की कमियाँ दूर हो जायें, तो समाज अपने आप ही सुधर जाता है। इन्होने समाज से ज्यादा व्यक्ति के व्यक्तित्व में परिवर्तन पर जोर दिया है। इसमे व्यक्ति के इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है कि वह कैसे समाज का निर्माण करना चाहता है। "'गाँधीवाद' नाम की कोई वस्तु है ही नही; और ना मैं अपने पीछे कोई संप्रदाय छोड़ जाना चाहता हूँ। मेरा यह दावा भी नहीं है कि मैंने किसी ने तत्व या सिद्धांत का आविष्कार किया है। मैंने तो सिर्फ जो शाश्वत सत्य है, उनको अपने नित्य के जीवन और प्रतिदिन के प्रश्नो पर अपने ढंग से उतारने का प्रयासमात्र किया है।..... जो राय मैंने कायम की है, और जिन निर्णय पर मैं पहुँचा हूँ, वे भी अंतिम नहीं है। हो सकता है, मैं कल ही उन्हें बदल दूँ। मुझे दुनिया को कोई नई चीज नहीं सिखानी है। सत्य और अहिंसा अनादि काल से चले आये है। मैंने तो जहाँ तक मैं कर सका, इन दोनों के अपने जीवन में प्रयोगभर किये है। ऐसा करते हुए कई बार मैंने गलती भी की है, और उन गलतियों से मैंने सीखा भी है मतलब जीवन और उसके प्रश्नों द्वारा मुझे सत्य और अहिंसा के आचरणगत प्रयोग करने का अवसर मिल गया है। स्वभाव से मैं सत्यवादी तो था, किंतु अहिंसक न था..... सत्य की उपासना करते-करते ही मुझे अहिंसा भी मिली है।"[27] गाँधी के विचारों से यह स्पष्ट होता है कि गाँधी कोई विचारधारा या संप्रदाय मात्र नहीं है यह समय परिस्थितियों के अनुसार लिए गए निर्णयों का एक पुंज मात्र है जिसमें

सत्य और अहिंसा के द्वारा लिया गया निर्णय है वह बदल भी सकता है। और गलत भी हो सकता है लेकिन सत्य का साथ नहीं छोड़ना गाँधी के पूरे दर्शन में पाते हैं कि गाँधी हमेशा सत्य और अहिंसा के साथ-साथ सेवा के पूजक रहे हैं। "पूर्वग्रह से दूषित ना होना, किंतु सत्य को मानने के लिए सदा तैयार रहना, और इस कारण असत्य से, फिर वह कितना ही पुराना या बहुमान्य क्यो ना हो, और उसमें हम कितने ही आगे क्यों ना बढ़ चुके हो, वापस लौटने में भय या लज्जा न रखना, और साथ ही, जिस समय जिस बात के बारे में सत्यता का विश्वास हो, उसके लिए अपना सर्वस्व खोने को तैयार रहना। 'अहिंसा'- इसका अर्थ होता है हर प्रकार के अधर्म का -गाँधी की भाषा में कहे तो-पशु बल से नहीं, बल्कि 'आत्म बल' से विरोध करना। गाँधीजी कई बार समझा चुके है कि अहिंसा कोई निष्क्रिय अभावात्मक मनोवृत्ति नहीं है, बल्कि वह प्रवाह के विरुद्ध चलने की एक क्रियात्मक और भावना प्रधान प्रवृत्ति है। दुनिया में हिंसा का प्रयोग प्राचीन काल से होता रहा है। और बुद्धि तथा विज्ञान की सहायता से उसकी पद्धतियों को पूर्णता तक पहुँचाने और हिंसा का एक शास्त्र तैयार करने के प्रयत्न सदियों से हो रहा है। जिसका हिंसाबल विपक्षी के हिंसाबल की अपेक्षा अधिक संगठित, और सुधरा हुआ और मानव संपन्न होता है, उसके लिए हिंसा द्वारा अपने भौतिक व्येय को सिद्ध करने का मार्ग खुला है ही। ऐसी कोई बात नहीं है कि इस बल का उपयोग केवल अधर्म और अन्याय के विरुद्ध ही हो सकता है। इसमें तो जो ज्यादा बलवान होता है वही जीतता है; फिर भले उसका पक्ष अधर्म का ही क्यों ना हो;।"[28] गाँधी सत्य और अहिंसा को परिभाषित करते हैं कि अहिंसा केवल पशु बलि ही नहीं है वह आत्म बल भी है अपने आत्मबल के द्वारा ही कार्यों का विरोध करना। असत्य चाहे जितना पुराना हो या जनता द्वारा मान्यता प्राप्त हो उसका विरोध करना। चाहे उसमें आपको अपना सर्वस्व ही क्यों न गवाना पड़े। गाँधी का तीसरा वचन है सेवा।

महात्मा गाँधी सत्य अहिंसा और सेवा भाव को ही जीवन के मूलमंत्र मानते हैं इनका प्रयोग भारत की गुलाम जनता को आजाद कराने, सामाजिक रूप से पिछड़े जातियों के उत्थान के लिए और धार्मिक परिस्थितियों को बनाए रखने के लिए करते हैं। "भारतीय समाज का निर्माण भी उस विद्रोह के

फलस्वरूप हुआ है, वह युगों की कसौटी पर सफल साबित हुआ है, और इसलिए उसकी एक बार फिर परीक्षा की जानी चाहिए। समाज के संगठन का आधार पैसा नहीं, सेवा है और यह नया माप प्रस्तुत करता है। यह प्रेम का परिचायक और संयुक्त जीवन का स्तंभ है। जहाँ सेवा मानवी संबंधों का मूल आधार होती है वहाँ प्रेम जीवन का स्रोत सिद्ध होगा। उसी के बल पर वास्तव में सेवा की भावना कायम रह सकती है। और जब प्रेम और सेवा समाज के आधार बन जाएंगे तो शक्ति और धन बाद में स्थान मिलेगा। शक्ति का स्थूल स्वरूप पैसा है। पश्चिम में शक्ति और पैसा ही समाज के आधार है। उनके कारण वहाँ वर्गों और आमजनता में संघर्ष है, प्रतिस्पर्धा की भावना सर्वव्यापी हो रही है, भौतिक संपत्ति की भूख बढ़ी हुई है, बाजारों की तलाश है और सैनिकवाद की भावना जोरों पर है। उनको हटा दीजिए या उनका प्रभाव कम-से-कम कर दीजिए, आप ऐसे समाज की रचना कर सकेंगे जो दूसरे समाज से सर्वथा भिन्न होगा एक शब्द में कहे तो हम अपने प्राचीन समाज पर पुनः पहुंच जाएंगे अवश्य ही उसपर धूल चढ़ गई है।"[29] गाँधी अपनी पूरी विचारधारा के आधार पर प्रेम और सेवा भाव को मुख्य मानते हैं उसी आधार पर ही सामाजिक परिवर्तनों की बात करते हैं और भारतीय समाज के मूल में भी यही भाव उनको दिखाई देता है लेकिन आधुनिक काल में उनको इसमें कुछ बुराइयां दिखाई देती हैं उन्हें दूर करने के लिए वह पुनः से सत्य, अहिंसा और सेवा भाव को स्थापित करना चाहते हैं जिससे समाज में प्रेम स्थापित हो सके। महात्मा गाँधी भारत की जातीय संरचना को भी सेवा भाव से ही दूर करना चाहते हैं वह चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने अंदर परिवर्तन लाये और उन परिवर्तनों के आधार पर ही समाज में परिवर्तन आयेगा। इसीलिए वह वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्षधर दिखाई देते हैं। "समाज की परिस्थितियों ने गाँधी के मानस का पुनर्निर्माण किया है और गाँधीजी ने अपने व्यक्तित्व की छाप भारतीय समाज पर लगा दी है। उन्होंने एक नए धर्म का विकास किया जो हिंदू समाज के चार वर्णों और चार आश्रमों के अलग-अलग धर्मों का सम्मिश्रण है। गाँधी ने अपने व्यक्तित्व में किसान और जुलाहे के, व्यापारी और व्यवसाय के, युद्ध करने और रक्षा करने वाले क्षत्रिय के और अंततः लोकसेवक गुणों का एक साथ समावेश किया है सेवा और प्रेम के द्वारा वे

स्मृतिकर्त्ता और सूत्रकार के दर्जे तक पहुँच गये है। उन्होंने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के धर्मों को भी एक साथ अपनाया है। उन्होंने जीवन के आदर्शों का जो एकांतिक समझे जाते थे, सामजस्य और समन्वय कर दिया है और उनको व्यापक और सर्वांगीण बना दिया है।"[30] गाँधी यह मानते हैं कि जो वर्णों में विश्वास करते हैं उनको स्थापित करने के लिए उसकी पवित्रता और उसके सिद्धांतों का पालन करें। जिससे हिंदू समाज की शुद्धि हो सके और जो आवरण उस पर चढ़ गया है वह हटाने का प्रयास किया जा सके और यह कार्य है केवल प्रेम और सेवा के आधार पर ही किया जा सकता है। गाँधी के विचारों से प्रतीत होता है कि वह वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं और उनमें जो बुराइयां हो गई हैं उनको दूर करना चाहते हैं। "मैं इस रामराज्य का स्वप्न देखता हूँ, उसमें राजाओं और भिखारियों-दोनों के अधिकार सुरक्षित रहेंगे।

सच पूछिए तो गाँधी की सामाजिक 'फिलासफी' का यही मूलमंत्र है उनके स्वप्न में रामराज्य में राजाओं के साथ-साथ बेचारे भिखारी भी विद्यमान रहते है। इसमें शक नहीं है कि गाँधीजी उन भिखारियों के हक की हिफाजत करना चाहते है। यद्यपि हमें यह भी नहीं बताते हैं कि उन बेचारों के हक क्या होगे और उन्हें लेकर भी वे अभागे क्या करेगे, लेकिन सबसे मनोरंजक, नहीं, नहीं, हैरत में डाल देने वाली बात तो यह है कि गाँधीजी के उस सपने में राम राज्य में भी कुछ लोग भिखारी बने ही रहेंगे।"[31] गाँधी के विचार से समाज में राजा और भिखारी दोनों की कल्पना की गई है और उनकी इस पूरी विचारधारा को सफल होने के लिए उनके समाज में भिखारियों का होना भी उतना ही सही सिद्ध किया गया है लेकिन यह कहाँ तक न्यायोचित है कि एक ही समाज में वर्गों के आधार पर बैठे लोग एक दूसरे का शोषण नहीं करेंगे। गाँधी समाज को अपने गाँधीवादी ढंग से बदलने का प्रयास करते हैं जिसमें वह प्रत्येक व्यक्ति के अंदर सत्य अहिंसा और सेवा भाव को जागृत करते हैं लेकिन यह उनका पूरा प्रयास कल्पना मात्र दिखाई देती है जिससे कि प्रत्येक समाज में रहने वाले व्यक्तियों के अंदर एक साथ परिवर्तन तो नहीं दिखाई देता है और अगर राजा और भिखारी एक ही समाज में रह रहे हैं तो

वर्गों के आधार पर जो शोषण हो रहा है, इसलिए गाँधी जिस व्यवस्था के पक्ष में वह भी न्यायोचित नहीं दिखाई देता है।

"भारत में अस्पृश्यता-निवारण आंदोलन हिंदू धर्म की शुद्धि का आंदोलन है, हिंदू धर्म के लगभग 24 करोड लोग अनुयायी है। अनुमान लगाया गया है कि इसमें 4 करोड़ से ऊपर लोग अस्पृश्य माने जाते हैं। यह अस्पृश्यता दक्षिण भारत में अपने उग्र रूप में है, यहाँ तक कि वहाँ उनका समीप पहुँचना या दिख जाना भी वर्जित है। अस्पृश्यता की प्रथा में तथाकथित उनके वर्गों के लोगों का अस्पृश्य कहलाने वाले लोगों के स्पर्श से बचना ही आता है। अनुगम्य वे लोग है जिनके एक निश्चित हद की दूरी से अधिक पास आ जाने पर ऊँचे वर्ग के लोग अपवित्र हो जाते है। जिसके देखने-मात्र से भी अपवित्र हो जाते हैं ऐसे लोग अदर्शनीय है।

हिंदू समाज की बहिष्कृत जातियाँ जिन जगहों में सीमित रहती है, उन्हें 'गेटो' कहना ठीक होगा। भली-भांति सुसंबद्ध किसी भी समाज में जिन सामान्य सुविधाओं को हर प्राणी का अधिकार समझा जाता है, जैसे कि डाक्टरी सहायता, नाई, धोबी आदि सुविधा, वे भी इन्हें नहीं दी जाती। बहुत बड़ी संख्या में प्राणियों के इस  तरह उत्पीड़न से उत्पीड़कों पर अमिट कलंक लग गया है और अस्पृश्यता का नासूर हिंदू धर्म की शक्ति को क्षीण करता जा रहा है; यहाँ तक कि इसने किसी समय की एक महान संस्था को विकृत कर दिया है मेरा अभिप्राय है वर्णाश्रम व्यवस्था से जो समाज की गलती या कमजोरियों के कारण जाति व्यवस्था में परिणत हो गई है। वर्णाश्रम का प्रयोजन तो था श्रम और पेशों का वैज्ञानिक ढंग से बँटवारा। किंतु अब यह बँटवारा सहभोज और विवाह संबंधों को संचालित करने की एक विस्तृत प्रणाली-भर बनकर रह गया है। संसार के श्रेष्ठ धर्म को खान-पान और विवाह-संबंधी हास्यप्रद नियमों की संहिता-मात्र बना दिया गया है।"[32]

महात्मा गाँधी हरिजनों की कई प्रश्नों का जवाब अपने संपूर्ण वांग्मय में देते हैं। अस्पृश्यता कैसे समाप्त हो सकती है इस सवाल के जवाब में वह कहते हैं कि सामान्य हिंदू अपने घरों में अन्य जाति के

लोगों को नौकरी पर रख ले। जो लोग अस्पृश्यता को दूर करना चाहते हैं वह हरिजन के बालक या कन्या को नौकरी दे या अपने कुटुंब में रख ले। जिससे अस्पृश्यता दूर हो जाएगी यह समाज के लिए अच्छा काम होगा। गाँधी हरिजनों को भी सलाह देते हैं कि अपने अंदर जो कमियाँ है उनमें और सुधार लाये जिससे कोई भी उन्हें बुरा न कह सके। महात्मा गाँधी इन सारी बातों से यह बताते हैं कि सामाजिक व्यवस्था जो दशकों से चली आ रही है उस व्यवस्था को वह वैसे की वैसे ही बनाए रखना चाहते हैं। और केवल समाज से अस्पृश्यता के भाव को दूर करना चाहते हैं। वह समाज से अमीरी-गरीबी या ऊंच-नीच की व्यवस्था को खत्म करने के विचार उनके समाधान में नहीं दिखाई देता है। दलितों के मंदिर प्रवेश पर भी गाँधी कोई कड़ा विरोध नहीं प्रदर्शित करते हैं। लेकिन वह चाहते हैं कि मंदिर सभी लोगों के लिए खुले और नये मन हरिजनों के लिए नये मंदिरों का निर्माण हो। मुंबई की विधानसभा से यह प्रस्ताव पास हुआ कि हरिजनों के लिए सार्वजनिक कुएं खोले जायें। लेकिन वह अमल में नहीं आता है इस विषय पर गाँधी हरिजनों को सत्याग्रह न करने और स्वयं भी असमर्थता जाहिर करते है। महात्मा गाँधी गुलामी और अस्पृश्यता के अंतर को बताते हैं। "यह सही है कि १८३३ में विधान-सभा ने कानून बनाकर गुलामी का अंत किया था। पर सन १९३२ में एक स्वैच्छिक संघ ने अस्पृश्यता का नाश किया है और इसके पीछे सत्ताबल नहीं है यह कहकर १९३२ के प्रयास का मूल्य कोई कम ना आंके। १९३२ का कार्य ऐच्छिक ही हो सकता था। गुलामी एक इकरार के समान थी और कानून के बल पर उसका पालन कराया जा सकता था। अस्पृश्यता एक धार्मिक प्रथा है। दीनबंधु एंड्रयूज ने सच ही कहा है कि अस्पृश्यता "नैतिक गुलामी" है। इसका कानून द्वारा अंत नहीं हो सकता था। इसे नष्ट करने का एकमात्र औपचारिक उपाय मुंबई में निश्चित किया गया था। फिर, मैं बता ही चुका हूँ कि ऐसा नहीं है कि इसके पीछे कोई सत्ताबल ना हो। यह सच है कि इसके पीछे जो सत्ता है वह नैतिक है, पर अंत में कानूनी सत्ता से नैतिक सत्ता ही अधिक प्रबल साबित होती है। पाठक समझन ले कि जिन विधायकों को केंद्रीय विधान-सभा में पास कराने का प्रयास किया जा रहा है, उसके द्वारा अस्पृश्यता का नाश कराने का इरादा जरा भी नहीं है। एक विधेयक का उद्देश्य तो हरिजनों

के मंदिर प्रवेश के लिए नियम बनवाया है, और दूसरे विधेयकों का उद्देश्य यह है कि अस्पृश्यता को कानूनन जो स्वीकृति मिली हुई है, उसे समाप्त कर दिया जाये। धार्मिक मान्यताएं और सामाजिक रीतियों पर इन दोनों विधेयकों में से एक का भी प्रभाव नहीं पड़ता। यह काम तो धार्मिक और सामाजिक सुधार को है। सुधारों की गति तेज करने के लिए विधेयकों का पास होना बहुत जरूरी है, पर इससे अस्पृश्यता का अंत नहीं हो सकता। अस्पृश्यता कोई इकरार की चीज नहीं है। 'अस्पृश्य' कहे जाने वाले लोग ख़रीदे या बेचे नहीं जा सकते।"[33] गाँधी यह बताने का प्रयास करते हैं कि भारतीय समाज की व्यवस्था को क़ानूनी रूप से नहीं बदला जा सकता है। हरेक व्यक्ति के परिवर्तन से समाज में परिवर्तन होगा क़ानूनी रूप से यह असंभव है। व्यक्ति के हृदय परिवर्तन के आधार पर ही उसको बदला जा सकता है। यह कानूनी आधार पर बदलने से व्यक्ति के अंदर परिवर्तन नहीं हो सकता है वाह्य रूप से परिवर्तन संभव है लेकिन सामाजिक बुराइयों या अस्पृश्यता को दूर करने के लिए व्यक्ति के हृदय को परिवर्तित करना है। जिससे समाज ठोस रूप में बदल सके। क़ानूनी रूप से तो परिवर्तन डराकर किया जा सकता है उसे जड से ख़त्म नहीं किया जा सकता है।

"मैं वर्णाश्रम को अस्पृश्यता की श्रेणीबद्ध प्रणाली नहीं मानता। वर्ण धर्म से मेरा क्या अभिप्राय है यह मैं बता चुका हूँ। वर्ण धर्म के अर्थ में श्रेणियां समझता ही नहीं। वर्ण धर्म में समाज का विभाजन ऊपर-नीचे के हिसाब से नहीं, समतल अर्थात बराबरी के आधार पर होता है इसलिए अस्पृश्यता पर इशिता का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वर्णधर्म ही एक ऐसा महान आर्थिक नियम है कि जिसे हम यदि स्वीकार कर ले तो वह हमें उस महानविपत्तियों से बचा लेगा जो संसार के ऊपर आने वाली है। इस कथन के समर्थन में मेरे पास शास्त्रों के पर्याप्त प्रमाण हैं कि ईश्वर की नजर में ब्राह्मण और भंगी बिल्कुल बराबर है।"[34] महात्मा गाँधी वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्ष में है। समाज वर्णाश्रम व्यवस्था में विभक्त रहे और ईमानदारी पूर्वक अपना कार्य करें। इस व्यवस्था में ऊंच-नीच आने पर ही बुराई पैदा होती है। वर्णाश्रम व्यवस्था समाज को व्यवस्थित रूप देने का माध्यम है। इस व्यवस्था में सामाजिक शोषण का आधार गलत व्याख्या है और इसे समाज की आर्थिक समृद्धि का पक्षधर मानते है। यह

व्यवस्था आदर्श रूप में गाँधी के विचारधारा में दिखाई देती है लेकिन धरातल पर यह शोषणकारी व्यवस्था का साधन है।

**डॉ. भीमराव अंबेडकर**

भारतीय समाज व्यवस्था को समझना हो तो डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचार बहुत ही मददगार साबित होते हैं। उन्होंने भारतीय समाज व्यवस्था के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी पहलुओं पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। डॉ. अंबेडकर ने मानव और समाज के बीच जो संबंध है उसकी व्याख्या एक की है। "जब हम मानव के विषय में बात करते हैं, तो हमारा तात्पर्य मात्र यही नहीं होता है कि कोई व्यक्ति एक व्यष्टि अर्थात समाज ईकाई है। ठीक वैसे ही, जैसे एक अणु, घास का तिनका, एक मक्खी या एक हाथी अलग-अलग इकाइयां हैं, व्यक्ति भी एक इकाई होता है जो अपनी बुद्धि और इच्छा-शक्ति से स्वयं के अस्तित्व को बनाए रखता है। केवल उसका शारीरिक अस्तित्व ही नहीं होता, बल्कि उसके पास ज्ञान और प्रेम जैसे उच्च आध्यात्मिक भाव भी होते हैं जिससे वह कुछ मायनों में स्वयं में एक ब्रह्मांड है। वह एक ऐसा प्राणी है, जिसमें ज्ञान के माध्यम से भी संपूर्णता के साथ ही विशाल ब्रह्मांड को समेटा जा सकता है।"[35] डॉ. अंबेडकर व्यक्ति के विषय में यह कहते हैं कि वह समाज की इकाई है, उसके अंदर जो प्रेम और अपने ज्ञान है उन्हीं के माध्यम से वह व्यक्तियों से जुड़ता है और अपने आप को प्रदर्शित करता है। जिससे वह इस समाज का भाग बन जाता है। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने हिंदू समाज व्यवस्था के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। "हिंदू समाज व्यवस्था इस सिद्धांत पर आधारित है कि ईश्वर ने मानव को अपने शरीर के भिन्न-भिन्न हिस्सों से पैदा किया है, अतः पाल या पवित्र स्थानों की यात्रा करने वाले पादरियों द्वारा व्यक्त किये गए। विचारों का इसमें कोई स्थान नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय ईश्वर की भुजाओं से पैदा हुआ है। क्षत्रिय, वैश्य का भाई नहीं है क्योंकि क्षत्रिय ईश्वर की भुजाओं तथा वैश्य उसकी जांघ से पैदा हुआ है। चूँकि कोई किसी का भाई नहीं है, अतः कोई किसी का रक्षक नहीं है।

इस सिद्धांत ने, कि भिन्न-भिन्न वर्ण ईश्वर के भिन्न-भिन्न अंगों से पैदा हुए हैं, इस विश्वास को पैदा किया है कि यह ईश्वरीय इच्छा है कि वे सभी वर्ण अलग-अलग रहें तथा अपनी अलग-अलग पहचान बनाए रखों। इसी विश्वास ने हिंदुओं में अलग-अलग रहने तथा अपने शेष साथी हिन्दुओं से भिन्न, और विशिष्ट पहचान बनाए रखने की भावना को बल दिया है।"[36] डॉ. अंबेडकर ने भारतीय वर्ण व्यवस्था में उच्चा-निम्न की जो श्रेणियां है उनको समझाने का प्रयास किया है।अगर सभी समान है तो ईश्वर ने सभी को किसी एक ही अंग से क्यों नहीं जन्म दिया है अगर उनको अलग-अलग अंगों से जन्म दिया है तो इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर ने ही यह भेद उत्पन्न किया है और व्यक्ति को यह व्यवस्था बनाये रखने के लिए प्रेरित किया है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में यह कहा जाता है कि समाज में समानता और भाईचारे की भावना बहुत अधिक है। इसी भावना के आधार पर ही यह समाज बना है और टिका हुआ है लेकिन अंबेडकर इस पर अपने विचार रखते हुए कहते हैं कि "यदि हिंदू समाज व्यवस्था समानता तथा भाईचारे पर आधारित नहीं है, तो वह कौन से सिद्धांत पर टिकी हुई है? इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है। कुछ ही लोग यह समझने में समर्थ होंगे कि वे क्या हैं, लेकिन उनकी प्रकृति और हिंदू समाज पर उनके प्रभाव के बारे में कोई संशय नहीं हैं हिंदू समाज-व्यवस्था का पोषण तीन सिद्धांतों द्वारा होता हैं इनमें सबसे पहला सिद्धांत है, सीढ़ी भेदभाव का व्यवहार। इस चरणबद्ध असमानता का यह सिद्धांत मूल सिद्धांत और विवाद से परे है चारों वर्ण सपाट धरातल पर नहीं रचे गए हैं, जो भिन्न होते हुए भी समान हों। यह सीढीनुमा धरातल वाले है। यह ना केवल भिन्न-भिन्न है, वरन स्थितियों में भी असमान हैं और एक दूसरे के ऊपर टिके हुए हैं मनु की योजनानुसार ब्राह्मण को पहले वर्ण में रखा जाता हैं उसके नीचे का क्षत्रिय वर्ण होता है। क्षत्रिय से निचले वैश्य होता है वैश्य से निचला वर्ण शुद्ध होता है तथा शूद्र से अगला वर्ण जाति सूत्र या अस्पृश्य का होता है। इन वर्णों के बीच अग्रता का यह क्रम मात्र परंपरागत नहीं है या आध्यात्मिक, नैतिक और वैधानिक हैं। जीवन का कोई भी हिस्सा नहीं है, जो वर्गीकृत असमानता के इस सिद्धांत से अछूता है।"[37] डॉ. अंबेडकर सामाजिक व्यवस्था को एक वर्गीकरण के रूप में देखते हैं जिस आधार पर यह

समाज गुना गया है और यह उसी आधार पर पोषण पाता हुआ चल रहा है। वर्ण व्यवस्था को देखें तो एक वर्गीकरण दिखाई देता है और उस वर्गीकरण में प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चारों वर्ण के स्थान नियत हैं इन्हीं नियत स्थानों के आधार पर समाज में उच्च और निम्न का भेदभाव दिखाई देता है। भारतीय वर्ण व्यवस्था में यह कहा जाता है कि व्यक्ति को अपने वर्ण चुनने का अधिकार नहीं है। उसके पास अपने व्यवसाय को चुनने का भी अधिकार नहीं है। व्यक्ति से सम्बंधित जन्म के आधार पर ही तय कर दिये जाते हैं। जिसका वह सम्पूर्ण जीवन निर्वहन करता है। "हिंदू समाज भाईचारे के खिलाफ हैं इसमें समानता के सिद्धांत को कोई स्थान नहीं है। समानता को मान्यता प्रदान करने के बजाय असमानता को अपने आधिकारिक सिद्धांत बनाती है। स्वतंत्रता के बारे में स्थिति यह है कि व्यवसाय के चयन के बारे में कोई स्वतंत्रता नहीं है प्रत्येक का उसके लिए निर्धारित अपना व्यवसाय है। उसे तो बस वही करते रहना है। जहां तक अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सवाल है, यह स्वतंत्रता है, लेकिन यह केवल उन्हीं लोगों के लिए जो समाज व्यवस्था के पक्षधर है।"[38] डॉ. अंबेडकर ने भारतीय वर्ण व्यवस्था के स्वरूप को उजागर करने का कार्य किया है। उन्होंने सबसे पहले समानता की बात को खारिज किया कि वर्ण व्यवस्था में समानता नहीं है और व्यवसाय चुनने की स्वतंत्रता भी वर्ण व्यवस्था में नहीं है। इस आधार पर यह कहते हैं कि यह एक जन्म आधारित व्यवस्था है और व्यक्ति के शोषण का जरिया है। जिससे समाज में वर्ण के साथ-साथ जातियों की उद्भव का कारण भी है।

डॉ. भीमराव अंबेडकर गुलाम एवं अस्पृश्यता के बीच के अंतर के विषय में लिखते हैं कि "न तो गुलामी ही स्वतंत्र समाज-व्यवस्था है न ही अस्पृश्यता। परंतु यदि इन दोनों में अंतर किया जाए, और इस बात में कोई संदेश भी नहीं है कि इन दोनों में अंतर है, तो इस अंतर की कसौटी यह होगी कि क्या गुलामी की स्थिति में शिक्षा, नैतिक आदर्श, सुख, संस्कृति और समृद्ध संभव है, या यह अस्पृश्यता की स्थिति में संभव है। अगर इस कसौटी पर इन दोनों स्थितियों को परखा जाए, तब निसंदेह है या पता चलेगा की गुलामी की स्थिति सौ दर्जी अच्छी है। गुलामी में शिक्षा, नैतिक आदर्श, सुख, संस्कृति और समृद्धि की गुंजाइश है। अस्पृश्यता में तो इनमें से किसी की गुंजाइश नहीं है।

अस्पृश्यता में गुलामी जैसी परतंत्र समाज-व्यवस्था के लाभ का कोई संभावना नहीं। इसमें स्वतंत्र व्यवस्था की सारी हानियां विद्यमान है। गुलामी जैसी परतंत्र समाज-व्यवस्था में कुछ लाभ भी हैं, जैसे व्यापार, दस्तकारी या कला का अनुभव, या जैसे कि प्रोफेसर मूरेस ने इसे 'उच्च संस्कृति की दीक्षा का सोपान' कहा था। गुलामी की प्रथा में, विशेषकर जो प्रथा रोमन साम्राज्य में प्रचलित थी, उसमें अस्पृश्यता को समाप्त करने या व्यक्तिगत विकास की बाधाओं की अस्वीकृति का प्रश्न ही नहीं हुआ। इसलिए अभी यह कहना जल्दबाजी होगा की गुलामी की प्रथा अस्पृश्यता से बेहतर है।"[39] भारतीय सामाजिक व्यवस्था में गुलाम या दास की व्यवस्था बहुत ही कम थी यह प्रथा मुख्य रूप पश्चिम के देशों में देखने को मिलती है। जिसमें व्यक्ति को वस्तु की तरह मोल भाव से खरीदा जाता रहा है और वह अपने मालिक के यहाँ कुछ भी करने को बाध्य होता था उसको कोई भी अधिकार नहीं होते थे। लेकिन भारतीय समाज में यह व्यवस्था नहीं है। भारत में वर्ण व्यवस्था आधारित समाज है जिससे निम्न वर्ण के लोगों का शोषण जन्म के आधार से ही शुरू हो जाता है। वह उच्च वर्ण के सामने आ जाने से ही अशुद्ध बोध से ग्रसित हो जाते है तो छू लेना तो पाप के समान है। यह व्यवस्था गुलामों या दासों से भी कष्टकारी रही है।

भारतीय समाज में कुछ विद्वान ऐसे भी हैं जो जाति व्यवस्था को खत्म करना चाहते हैं लेकिन कुछ वर्ण व्यवस्था का समर्थन भी करते हैं। समर्थकों के विषय में अंबेडकर ने कहा है कि "लेकिन सुधारकों का एक वर्ग ऐसा है, जिसका आदर्श कुछ और ही है। ये स्वयं को आर्य समाजी कहते हैं। सामाजिक संगठन का इनका आदर्श चातुर्वर्य, अर्थात पूरे समाज का चार वर्गों में विभाजन है, न कि चार हजार जातियों में, जैसे कि भारत में है। अपने इस सिद्धांत को अधिक आकर्षक बनाने के लिए और विरोधियों को हद प्रस्तुत करने के लिए चातुर्वर्य के यह प्रचारक बहुत सोच समझकर बताते हैं कि उनका चातुर्वर्य जन्म के आधार पर नहीं, बल्कि गुण के आधार पर है। यहां पर पहले ही मैं बता देना चाहता हूं कि चातुर्वर्य गुण के आधार पर हो, किंतु यह आदर्श मेरे विचार से मेल नहीं खाता। पहली बात तो यह है कि अगर आर्यसमाजियों के चातुर्वर्य के अंतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को उनके अपने

गुण के अनुसार हिंदू समाज में स्थान मिलता हैं, तो मेरी समझ में यह नहीं आता कि आर्यसमाजी लोग सभी लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम से पुकारते ही क्यों हैं। यदि किसी विद्वान को ब्राह्मण ना ही कहा जाए, तो भी उसे अगर प्राप्त होगा। यदि कोई सिपाही हो, और क्षत्रिय कहे बिना भी उसका सम्मान होगा।"[40]

डॉ. अंबेडकर भारतीय समाज में वर्ण व्यवस्था के रूप में चली आ रही सामाजिक व्यवस्था का विरोध करते हैं और इस व्यवस्था से बंट रही जातियों एवं उपजातियों का भी विरोध करते हैं। वर्ण व्यवस्था को समाज का हितकर नहीं मानते हैं। इससे समाज में व्यक्ति की समानता का जो भाव है वह बाधित होता है। ऐसा नहीं है कि डॉ. अंबेडकर केवल इस व्यवस्था की कमियां बताते हैं बल्कि वह एक सुझाव भी रखते हैं। जिससे समाज सुचारू रूप से चल सके। "अगर भारत में अलग-अलग जाति और रक्त के समुदायों को अन्तर्विवाह करने की अनुमति दी तो विभिन्न प्रजातियों और परिवारों को एक-दूसरे में समागम से क्या हानि होगी? इसमें संदेह नहीं कि जहां तक आदमियों और जानवरों का संबंध है, उनमें इतना गहरा अंतर है कि विज्ञान इन्हें दो अलग-अलग जीव-रूपों की मान्यता देता है, लेकिन जो वैज्ञानिक प्रजातियों की शुद्धता (मिश्रण हीनता) में विश्वास करते हैं, वे भी दावे के साथ या नहीं कहते हैं कि अलग-अलग प्रजातियों के लोग, अलग-अलग किस्म के होते हैं। वे सभी एक ही नस्ल की अलग-अलग किस्मों के होते हैं। वे एक-दूसरे की उप-जातियों में विवाह करके संतान उत्पन्न कर सकते हैं- ऐसी संताने, जो स्वयं भी आगे संतान उत्पन्न करने में समर्थ होंगे, और बात ना होगी।"[41] डॉ. अंबेडकर भारत में जाति उच्चता और निम्नता को समाप्त करने के लिए वैवाहिक संबंध का विचार रखते हैं जिससे समाज में एकरूपता आएगी और असमानता दूर होंगी। "जाति-व्यवस्था समाप्त करने की एक और कार्य-योजना है कि अंतर्जातीय खान-पान का आयोजन किया जाये। मेरी राय में यह उपाय भी पर्याप्त नहीं है। ऐसी अनेक जातियाँ हैं, जो अंतर्जातीय खान-पान की अनुमति देती हैं। इस विषय में सामान्य अनुभव यह रहा है कि अंतर्जातीय खान-पान की व्यवस्था जाति-भावना या जाति-बोध को समाप्त करने में सफल नहीं हो पाई है। मुझे पूरा विश्वास है कि इसका वास्तविक उपचार

अंतर्जातीय विवाह ही है। केवल खून के मिलने ही रिश्ते की भावना पैदा होगी और जब तक सजातीयता की भावना को सर्वोच्च स्थान नहीं दिया जाता, तब तक जाति-व्यवस्था द्वारा उत्पन्न की गई पृथकता की भावना, अर्थात पराएपन की भावना समाप्त नहीं होगी। हिंदुओं में अंतर्जातीय विवाह सामाजिक जीवन में महान शक्ति का एक कारण सिद्ध होगा। गैर-हिंदुओं में इसकी इतनी आवश्यकता नहीं है। जहां समाज संबंधों के ताने-बाने से सुगठित होगा, वहां विवाह जीवन की एक साधारण घटना होगी लेकिन जहां समाज छिन्न-भिन्न है वहां बाध्यकारी शक्ति के रूप में विवाह की परम आवश्यकता होती है। अत: जाति-व्यवस्था को समाप्त करने का वास्तविक उपाय अंतर्जातीय विवाह ही है।"[42]

डॉ. अंबेडकर अंतर्जातीय खानपान की भी बात करते हैं लेकिन वह उससे जाति व्यवस्था के उन्मूलन का मुख्य हथियार या मुख्य कारण नहीं मानते हैं क्योंकि खानपान करने से जातीय दंभ तो बना रहेगा। लेकिन अगर हम अंतर्जातीय विवाह शुरू करते हैं तो इससे जातीय संरचना टूटेगी और एक दूसरे व्यक्ति का सम्मान करेंगे और हीनता बोध खत्म होगा। "जाति व्यवस्था उसी स्थिति में समाप्त होगी। जब रोटी-बेटी का संबंध सामान्य व्यवहार में आ जाए। आपने बीमारी की जड़ का पता लगा लिया है। लेकिन क्या बीमारी के लिए उसका नुसखा ठीक है? यह प्रश्न अपने आप से पूछिए। अधिसंख्य हिंदू रोटी-बेटी का संबंध क्यों नहीं करते। आपका उद्देश्य लोकप्रिय क्यों नहीं है? उनका केवल एक ही उत्तर है और वह है कि रोटी-बेटी का संबंध उन आस्थाओं और धार्मिक-सिद्धांतों के प्रतिकूल है जिन्हें हिंदू पवित्र मानते हैं। जाति ईंटों की दीवारया कांटेदार तारों की लाइन जैसी कोई भौतिक वस्तु नहीं है, जो हिंदुओं को मेल-मिलाप से रोकती हो और जिसे तोड़ना आवश्यक हो। जाति तो एक धारणा है और यह एक मानसिक स्थिति है। अतः जाति व्यवस्था को नष्ट करने का अर्थ भौतिक रुकावटों को दूर करना नहीं है।"[43]

डॉ. भीमराव अंबेडकर भारतीय समाज व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था से व्यक्तियों की सोच और उस व्यवस्था में बने रहने से समाज में आ रही अवरोधों की बात करते हैं।

जिससे हमारा समाज स्वस्थ नहीं हो सकता है डॉ. अंबेडकर इन कमियों को जानते हैं और इन कमियों को दूर करने की भी बात करते हैं कि जब तक समाज में रोटी और बेटी का संबंध स्थापित नहीं होगा। तब तक समाज एक बेहतर स्थिति में नहीं पहुँच सकता है। और समाज से अस्पृश्यता एवं असमानता समाप्त नहीं हो सकती है। यह व्यवस्था हिंदू धर्म सिद्धांतों पर आधारित है इसलिए इस व्यवस्था के मूल में उच्चता निम्नता संबंधी विचार है।जिससे समाज में वर्ण एवं जाति के आधार पर विभाजन भी है। इस विभाजन को दूर करने का एकमात्र कारण है सबको एक ही स्थान या मंच पर एकत्रित होना और इस एकत्रित करने की एक ही खड़ी है वह है रोटी और बेटी का संबंध। जब तक पारिवारिक रिश्ते स्थापित नहीं होगें लोगों के मन के भाव में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। यह व्यवस्था किसी न किसी रूप में सामने आती रहेगी जिससे समाज में शोषण व्याप्त रहेगा।

**डॉ. राम मनोहर लोहिया**

डॉ. राम मनोहर लोहिया भारत की सामाजिक राजनीतिक आर्थिक दृष्टि को समाजवादी ढंग से देखते थे। भारत में 1935 के बाद से कांग्रेस से ही अलग एक संगठन बना जिसका नाम कांग्रेस समाजवादी दल रखा गया। जिसमें जयप्रकाश नारायण, डॉ. राम मनोहर लोहिया, आचार्य नरेंद्र देव आदि सक्रिय सदस्य थे। जब इस संगठन का गठन हुआ तो इसका मूल उद्देश्य भारत की स्वतंत्रता एवं समाजवाद को स्थापित करना था। आधुनिक युग में दुनिया के हर एक देश में समाजवाद किसी न किसी रूप में व्यक्त हो रहा था उसी का प्रभाव भारत में भी देखने को मिलता है। "आचार्य नरेंद्र देव ने समाजवाद के ध्येय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि समाजवाद संसार को आजाद करना चाहता है, व्यक्तित्व के विकास में रुकावट डालने वाले सामाजिक बंधन से उसे छुटकारा दिलाना चाहता है। शोषण मुक्त समाज की रचना करके मौजूदा समाज का प्रचलित दासता, विषमता और असहिष्णुता को सदा के लिए दूर करके, समाजवाद, स्वतंत्रता समता और मातृत्व की वास्तविक स्थापना करना

चाहता है।"[44] समाजवाद का मूल उद्देश्य सामाजिक समानता और स्वतंत्रता ही है। डॉ. राम मनोहर लोहिया समाजवाद के अंतर्गत समानता के साथ का संपन्नता की भी चर्चा की है। उनके अनुसार समानता तभी संभव है जब देश की संपत्ति का बंटवारा व्यक्ति की आवश्यकता अनुसार कर दिया जाये और सभी संपत्ति पर राष्ट्र का अधिकार जिससे समाज में समानता आयेगी और संपन्नता के लिए उन्होंने कहा कि अपने उत्पादकों में प्रत्येक वर्ष वृद्धि करना है जिससे संपन्नता आ सके तभी बेहतर समाजवादी समाज बना सकते हैं।

डॉ. राम मनोहर लोहिया ने भारत की उन्नति में सबसे बड़ा बाधक जाति समस्या को माना है। "किसी भी हिसाब से हिंदुस्तान की आबादी में ऊंची जाति वाले 20 प्रतिशत से ज्यादा नहीं किंतु देश में नेतागिरी की लगभग 80 प्रतिशत जगहों की हम जब बात करते हैं तो हमारा मतलब विधायकाओं के सदस्यों से नहीं है, बल्कि उनका चयन करने वाली कार्य-समितियों से है। जब किसी राष्ट्र के मर्मस्थल के 80 प्रतिशत नेतृत्व को उसकी आबादी के 20 प्रतिशत में से ही चुना जायेगा, तो निश्चय ही क्षय-रोग की अवस्था जायेगी। उनकी 80 प्रतिशत आबादी अकर्मण्यता और अयोग्यता की अवस्था में पड़ जाती है। हमारा देश बीमार है और मौत के मुँह में बैठा है। ऐसे राज्य को तंदुरुस्त बनाने के लिए नेतृत्व का पूर्वनियोजित चयन करना होगा।"[45] लोहिया के अनुसार जब तक समाज के सभी वर्गों की भागीदारी सुनिश्चित नहीं हो जायेगी। तब तक समाज बेहतर नहीं हो सकता क्योंकि किसी भी अच्छी अवस्था को प्राप्त करने के लिए सभी की भागीदारी निश्चित होनी चाहिए अगर ऐसा नहीं है तो पीछे रह जायेंगे। "जाति में इतनी जकड़न होती है कि एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति में प्रवेश के लिए असमर्थ बना दिया जाता है। इस जाति पाश के कारण भारत का समग्र जीवन निष्प्राण हो गया है। भारत का व्यक्ति हिंदू, मुसलमान, सिख और ईसाई के नाम पर विभाजित है। हिंदू ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जातियों में विभाजित तो है ही, साथ-साथ इन जातियों में भी उप जातियाँ हैं। ये समस्त उप जातियाँ यहाँ तक विभाजित है कि वे एक दूसरे के साथ शादी विवाह, खान-पान अथवा अन्य सम्बन्ध करना अपना अपमान समझती हैं।"[46] डॉ. राम मनोहर लोहिया का पूरा चिंतन जाति समस्या को लेकर ही केंद्रित

रहा है। उन्होंने भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं को समझने के लिए जातीय उन्मूलन की बात की। वह भारतीय समाज से जाति को खत्म करने की बात करते हैं और समानता लाने की पहल करते हैं। वह भारत के ऊंची जातियों के षड्यंत्र एवं प्रगतिशील पार्टी के विचारों का भी खुलकर विरोध करते हैं। हिंदुस्तान की राजनीतिक पार्टियों के विषय में वे कहते हैं कि "वे चाहते है कि छोटी जातियों में से खास योग्यता वाली औरतें और मर्द ही उनके साथ आएँ। किन्तु वे यह भी चाहते है कि पूरा ढांचा जैसा का तैसा बना रहे। वे ज्यादातर ऊंची जातियों में से आये है। परम्परा योग्यता और आचार-विचार पर आधारित उनके सामाजिक समूह को जब तक आंच ना आए, वे अपनी जाति अथवा ऊंची और नीची जाति में भेद-भाव को निंदा करने में हिचकिचाते नहीं। छोटी जातियों में से अगर कोई योग्यता और तौर-तरीकों में सिद्ध है तो उसका स्वागत होता है। पर कितने लोग सिद्ध होगे। बहुत कम। एक व्यक्ति की प्रतिभा के विरुद्ध होगा, पांच हजार बरसों का जालिम प्रशिक्षण और परंपरा। इस कुश्ती में सिर्फ बहुत ही तेजस्वी और बहुत ही योग्य ही व्यक्ति जीत सकता है।"[47] डॉ. राम मनोहर लोहिया हिंदुस्तान की पार्टियों के विषय में यह कहते हैं कि प्रत्येक पार्टियां छोटी जातियों के प्रतिनिधित्व के लिए किसी न किसी एक व्यक्ति को अपने साथ रखती हैं। जिससे उस जातीय के मन में यह भाव बना रहे कि वह भी उस पद को प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन उस मकड़जाल को पार करके वहाँ तक पहुँचना बहुत ही कठिन काम है इसे बहुत ही योग्य व्यक्ति पार करता है। जिसे वह अपनी पार्टी में मिला लेते हैं और अन्य लोगों के समूह को वैसा का वैसा ही छोड़ देते हैं लोहिया भारत की ऊंची जातियों के षड्यंत्रकारी टीम ही बात करते हैं। "कुछ खास शूद्र समूहों के नेतृत्व में जाति के विरुद्ध दूसरे थे आंदोलन से बराबर मेल खाता है। शूद्रों के अंदर कुछ जातियां तादाद में शक्तिशाली है और कुछ इलाकों में तो बहुत ही ज्यादा शक्तिशाली है। बालिग मताधिकार के युग ने उनके हाथ में शक्ति सौप दी है। दक्षिणा के मुदलियार और रेड्डियों ने और पश्चिम हिंदुस्तान के मराठों ने उसका इस्तेमाल किया है। वे ही, न कि द्विज, अपने इलाकों के राजनीतिक मालिक हैं, हालांकि वहाँ भी ऊंची जातियों ने अपनी आर्थिक पकड़ को मजबूत बना लिया है और फिर से राजनीतिक क्षेत्र में आने का

बहुत ही चालाक और धोखे का प्रयास कर रहे हैं। यह संभव है, मुख्य रूप से इसलिए कि जाति के विरुद्ध आंदोलन हैं। समाज को ज्यादा न्यायसंगत, चलायमान और क्रियाशील बनाने के अर्थ में वे समाज को नहीं बदलते। वे सभी नीची जातियों को अधिकार नहीं देते, बल्कि सिर्फ उनको जो उनके बीच अकेले सबसे बड़ी हो। इसलिए वे जाति का नाश नहीं करते, बल्कि सिर्फ पद और अवसर में हेर-फेर करते हैं।"[48] लोहिया ने भारतीय समाज की अस्पृश्यता की तुलना अमेरिका और इंग्लैंड के व्यक्तियों के साथ की है जिस तरीके का बर्ताव यह देश भारत की जनता के साथ करती हैं वैसा ही बर्ताव ऊंची जातियां यहाँ की निम्न जातियों के साथ करती हैं।

डॉ. राम मनोहर लोहिया ने भारत की इस समस्या का समाधान बताते हैं कि किसी भी समस्या का समाधान किये बगैर किसी भी सिद्धांत का पालन नहीं किया जा सकता है, नहीं तो वह असफल ही सिद्ध होता है। ऐसे में डॉ. राम मनोहर लोहिया जाति प्रथा को समाप्त करने के लिए कहते हैं। "जीवन के बड़े तथ्य जैसे जन्म, मृत्यु, शादी-ब्याह भोज और अन्य सभी रस्मे जाति के चौखट में ही होती है। उसी जाति के लोग उन निर्णायक कामों में दूसरे की मदद करते हैं। ऐसे मौकों पर दूसरी जातियों के लोग किनारे पर रहते है। अलग और जैसे ही तमाशबीन हो। शुरू से ही एक आम गलती से छुटकारा पा लेना चाहिये। इधर के दशकों में देश के कई हिस्सों में कुछ अंतरजातीय काम हो हुए है। अव्वल तो, इस तरह के काम भोज की छोटी रस्म की हद तक ही सीमित रहे और शादी-ब्याह और बच्चे होने के बड़े काम नहीं हुए। दूसरे, यह काम सिर्फ सतही तौर पर और भ्रान्तिजनक रूप से अंतरजातीय है। कभी-कभी ऊँची जातियों के विभिन्न समुदाय के बीच अंतरजातीय विवाह और भोज हो जाया करते है। सचमुच के सामूहिक काम के क्षेत्र में, ऊँची जाति और छोटी जाति के बीच, अगर और ज्यादा नहीं, तो कम से कम हमेशा जैसा बड़ा भेद बना हुआ है। जब लोग अंतरजातीय विवाह इत्यादि की बात करते है, तो उसका मतलब ऊँची जाति के समुदाय के बीच विवाह से ही होता है।"[49]

डॉ. राम मनोहर लोहिया जातिप्रथा समाप्त करने के लिए डॉ. अंबेडकर के कथनों के करीब दिखाई देते हैं या कहे तो उन्हीं का समर्थन करते हैं। जब तक जीवन के समस्त कार्यों में सभी की

भागीदारी सुनिश्चित नहीं होगी एवं शादी विवाह जैसे कार्यक्रमों में सभी लोग जातियों से ऊपर उठकर अंतरजातीय विवाह करेगें। तब तक एक समाजवादी समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता है। डॉ. राम मनोहर लोहिया तो डॉ. अंबेडकर से भी आगे की बात करते हैं और अंतरजातीय के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय विवाह की बात करते हैं। जिससे हमारे अन्य देशों से संबंध बेहतर हो सके जिन देशों से दोयम दर्जे के समझे जाते हैं। डॉ. लोहिया यह कहते हैं कि जब तक जाति खत्म नहीं होगी तब तक समाज के विकास की बात बेमानी है वह भारतीय युवाओं से कहते हैं। "ऊँची जाति के युवजन को अब अपनी पूरी ताकत से उठना चाहिए। इस नीति में अपने स्वार्थों पर हमला देखने के बजाय, उसमें जनता को नवजीवन देने की क्षमता के रूप में देखना चाहिए। आखिरी ऊँची और नीची जातियों के बहुत ही कम विवाह-संबंधों में, द्विज और हरिजन के बीच वाले विवाह तो देखे जा सकते है पर शूद्र और हरिजन के बीच नही। ऊँची जाति के युवजन को छोटी जातियों के लिए खाद बन जाने का निश्चय करना चाहिए ताकि एक बार तो जनता अपनी पूरी तेजस्विता में पल्लवित-पुष्पित हो। अगर मानव-स्वभाव अपरि मित त्याग के लिए तत्पर रहता है, तो ऊँची जातियाँ सलाहकार बनेगी और कार्यकारिणी होगी सभी नीची जातियाँ। अगर हर एक जगह संभव नहीं है, तो जितनी भी जगहों पर यह संभव हो सके हो।"[50]

डॉ. लोहिया मूल रूप से समाजवाद की स्थापना करने के लिए जाने जाते हैं भारतीय समाज को देखें तो बहुत ही ज्यादा विषमता दिखाई देती है। डॉ. लोहिया भारतीय सामाजिक व्यवस्था को समझते हैं और उसकी उन्नति में अवरोधक तत्व की चर्चा करते हैं और उन्हें दूर करने के प्रयास भी बताते हैं इस प्रकार वह भारतीय समाज में समानता और संपन्नता की ओर अपने विचारों से अग्रसर होते हुए दिखाई देते हैं। आधुनिक समय में जिस तरीके के विचार डॉ. राम मनोहर लोहिया के हैं, वह भारतीय समाज के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। जिससे समाज में समानता, स्वतंत्रता, भाईचारे की भावना उत्पन्न होगी, समाज उन्नत करेगा। मार्क्सवादी पार्टियाँ भारतीय समाज की संरचना को नहीं समझती वह आर्थिक आधार पर या वर्ग विहीन समाज के आधार पर बात करती लेकिन डॉ. राम

मनोहर लोहिया अपने समाजवाद में भारतीय समाज की परिस्थिति और उसकी मूल समस्या को समझते हैं उसकी दूर करने के सुझाव भी प्रस्तुत करते हैं।

## सन्दर्भ सूची:


1. वर्मा, वेद प्रकाश; नीति शास्त्र के मूल सिद्धांत; एलाइड पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद; संस्करण 2009; पृष्ठ 312
2. दामोदरन, के.; भारतीय चिंतन परंपरा; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण नवीन; पृष्ठ 11
3. ठाकुर, हरिनारायण; दलित साहित्य का समाजशास्त्र; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 46
4. वही, पृष्ठ 29
5. दामोदरन, के.; भारतीय चिंतन परंपरा; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण नवीन; पृष्ठ 75
6. सिंह, डॉ.. एन; दलित साहित्य के प्रतिमान; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 63
7. मेघवाल, कुसुम; हिंदी उपन्यासों में दलित वर्ग; सम्यक प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 23
8. सिंह, डॉ.. एन; दलित साहित्य के प्रतिमान; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 63-64
9. कृष्ण, प्रणय; उत्तर औपनिवेशिक के श्रोत और हिंदी साहित्य; हिंदी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद; संस्करण 2008; पृष्ठ 314
10. बॉटमोर, टी. बी.; समाजशास्त्र; अनुवादक गोपाल प्रधान; ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 45-46
11. विद्याभूषण, डी. आर. सचदेवा; समाजशास्त्र के सिद्धांत; किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण 1982; पृष्ठ 35
12. वही, पृष्ठ 37
13. वही, पृष्ठ 37
14. वही, पृष्ठ 38
15. बॉटमोर, टी. बी.; समाजशास्त्र; अनुवादक गोपाल प्रधान; ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 51
16. वही, पृष्ठ 52
17. विद्याभूषण; डी. आर. सचदेवा; समाजशास्त्र के सिद्धांत; किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण 1982; पृष्ठ 46
18. बॉटमोर, टी. बी.; समाजशास्त्र; अनुवादक गोपाल प्रधान; ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 54
19. विद्याभूषण; डी. आर. सचदेवा; समाजशास्त्र के सिद्धांत; किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण 1982; पृष्ठ 39
20. वही, पृष्ठ 40-41
21. वही, पृष्ठ 41
22. वही, पृष्ठ 45
23. बॉटमोर, टी. बी.; समाजशास्त्र; अनुवादक गोपाल प्रधान; ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली;

संस्करण 2012; पृष्ठ 56

24. वही, पृष्ठ 58
25. वही, पृष्ठ 58
26. कालेकर, काका; गाँधीवाद : समाजवाद; सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली; संस्करण 2000; पृष्ठ दो शब्द
27. वही, पृष्ठ 3-4
28. वही, पृष्ठ 11-12
29. वही, पृष्ठ 109-110
30. वही, पृष्ठ 111
31. वही, पृष्ठ 185
32. संपूर्ण गाँधी वांग्मय; भाग 29, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार; संस्करण 1969; नई दिल्ली; पृष्ठ 274
33. वही, भाग 56, पृष्ठ 94
34. वही, भाग 56, पृष्ठ 360
35. डॉ. अंबेडकर, बी. आर.; हिंदुत्व का दर्शन, बाबासाहेब डॉ.. अंबेडकर; संपूर्ण वांग्मय, खंड 6; डॉ.. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 123-124
36. वही, पृष्ठ 129
37. वही, पृष्ठ 136
38. वही, पृष्ठ 144
39. डॉ. अंबेडकर, बी. आर.; अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी; बाबासाहेब डॉ..अंबेडकर. संपूर्ण वांग्मय, खंड 9; डॉ.. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 35
40. डॉ. अंबेडकर, बी. आर.; भारत में जातिप्रथा एवं जातिप्रथा-उन्मूलन भाषायी प्रांतों पर विचार रानाडे, गाँधी और जिन्ना; बाबासाहेब डॉ.. अंबेडकर. संपूर्ण वांग्मय, खंड 1; डॉ.. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 80
41. वही, पृष्ठ 68
42. वही, पृष्ठ 90
43. वही, पृष्ठ 91
44. डॉ. दीक्षित, ताराचन्द; डॉ. लोहिया का समाजवादी दर्शन; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1976; पृष्ठ 24
45. सं. शरद, ओंकार; लोहिया के विचार; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1969; पृष्ठ 131
46. डॉ. दीक्षित, ताराचन्द; डॉ. लोहिया का समाजवादी दर्शन; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1997;. पृष्ठ 44.

47. सं. शरद, ओंकार; लोहिया के विचार; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1969; पृष्ठ 129
48. वही, पृष्ठ 133
49. वही, पृष्ठ 113-114
50. वही, पृष्ठ 137

## द्वितीय अध्याय

# हिंदी एवं मराठी दलित आत्मकथा परम्परा

किसी भी समाज की सांस्कृतिक-सामाजिक परिस्थितियों को समझने के लिए उसके अतीत को जानने की आवश्यकता पड़ती है। भारत में समाज शब्द का प्रयोग धर्मों और जातियों के लिए किया जाता है। प्रत्येक समाज का अपना इतिहास होता है जिससे वह अतीत के हर एक स्वरूप की चर्चा करता है। दलित समाज का अपना इतिहास है। भले ही दलित समाज की चर्चा दलित विमर्श के रूप में समकालीन समय में हो रही हो, लेकिन उसका इतिहास तभी से होगा जब यह समाज अस्तित्व में आया। दलित समाज का कोई सुनियोजित इतिहास प्राप्त नहीं होता है परन्तु कई धार्मिक ग्रंथो, साहित्यिक कृतियों में इनका उल्लेख मिलता है। दलित समाज को जागृत करने, स्वाभिमान से जीवन जीने के लिए एवं मानवीय गरिमा दिलाने के लिए संघर्ष में कई महापुरुषों का योगदान है उनमें से ज्योतिबा फुले एवं डॉ.. भीमराव अम्बेडकर का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

'दलित' शब्द का अभिप्राय जिनको दबाया गया हो, जिसका उत्पीडन हुआ हो, जिसका शोषण हुआ हो, जिनको अधिकारों से वंचित कर दिया गया हो। डॉ.. श्योराज सिंह बेचैन कहते है कि "दलित वह है जिसे भारतीय संविधान ने अनुसूचित जाति का दर्जा दिया हो।"[1] कंवल भारती का मानना है कि "दलित वह है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया है। जिसे कठोर और गंदे कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतन्त्र व्यवसाय करने से मना किया गया और जिस पर अछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही और वही दलित है, जिन्हें अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।"[2]

कंवल भारती के अनुसार दलित वह है जिनको समाज में अछूत समझा जाता है और उनसे कठोर कार्य एवं बेगार कराया गया है तथा शिक्षा एवं धन संग्रह से वंचित रखा गया है। शरण कुमार लिम्बाले 'दलित' शब्द की व्याख्या करते है कि "सर्वप्रथम दलित साहित्य में 'दलित' शब्द की

व्याख्या निश्चित करनी होगी। दलित केवल हरिजन और नवबौध्द नहीं। गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ आदिवासी, भूमिहीन, खेतमजदूर, श्रमिक, कष्ट्कारी जनता और यायावर जातियाँ सभी की सभी 'दलित' शब्द की परिभाषा में आती है। दलित शब्द की परिभाषा में केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से नहीं चलेगा। इसमे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों का भी समावेश करना होगा।"[3]

दलित शब्द का एक व्यापक अर्थ है लेकिन इसका जो वर्तमान समय में बहुत संकुचित स्तर पर प्रयोग हो रहा है, जिसमें इसको निम्न जाति के संदर्भ में लिया जा रहा है। दलित शब्द की परिभाषा में अनुसूचित जाति को ही माना जाता है। "अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के सदस्य, नवबौध्द, मजदूर लोग, भूमिहीन तथा गरीब कृषक महिलाएँ तथा वे सभी लोग जिन्हें धर्म के नाम पर एवं राजनैतिक तथा वे सभी लोग जिन्हें धर्म के नाम पर एवं राजनैतिक तथा आर्थिकतौर पर शोषित किया जा रहा है।"[4] महात्मा गाँधी ने दलितों को हरिजन शब्द से संबोधित करने को कहते है, लेकिन सभी दलित चिन्तकों एवं विचारकों ने इस शब्द को अपमानजनक माना और बाद में भारत सरकार ने इस शब्द के प्रयोग पर रोक लगा दी। भारतीय समाज व्यवस्था में जिसे अछूत घोषित किया गया है, उत्पीडित, शोषित एवं दबाया गया, सामाजिक अधिकारों से वंचित किया गया, जो जन्मना अछूत है और आर्थिक रूप से भी कमजोर है इसलिए उन्हें दलित कहा जाता है। भारतीय संविधान ने उन्हें अनुसूचित जाति का दर्जा दिया है।

सन 1947 ई. में आजादी के बाद भारतीय समाज में परिवर्तन हुए, भारत में लोकतंत्र आने के बाद आम आदमी के अधिकारों की बात की जाने लगी। दलित समाज समझने लगा कि वह भी स्वतन्त्र हो गए है। "जिन्हें गुलामी या दासत्व रास नहीं आया होगा, उन्होंने अवश्य ही संघर्ष किया होगा। अब यह सिध्द हो गया है कि दलितों के उसी संघर्ष से दलित साहित्य का जन्म हुआ है कुछ लोगों ने लिखा और कहा, दलित साहित्य वेदना और पीड़ा का साहित्य है। कुछ ने कहा, यह मुक्ति का साहित्य है। इस संबंध में हम ऐतिहासिक घटनाओं, दुर्घटनाओं का अध्ययन करें तो ऐसा मानना

चाहिए कि दलित साहित्य पीड़ा, वेदना, मुक्ति का साहित्य नहीं बल्कि अपने अधिकारों, अस्मिता और पहचान के लिए संघर्ष करने वालों का भी साहित्य है।"[5] दलित साहित्य उस व्यवस्था की देन है जिसमें मनुष्य को मनुष्य नहीं समझा जाता है। समाज के एक बड़े समुदाय को अस्पृश्य मान लिया जाता है। इस व्यवस्था में समाज के उच्च वर्ग को सभी सुविधायें दी जाती है, अधिकार दिये जाते हैं लेकिन निम्न वर्ग को समाज की व्यवस्था से वंचित कर दिया गया है उन्हें किसी भी अधिकार का भागीदार नहीं माना जाता है। इसका विरोध दलित समाज हमेशा से करता रहा है। वह समाज के परम्परागत एवं रूढिगत व्यवस्था के खिलाफ अपनी माँग करता रहता है। "ऐतिहासिक दबावों और सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप साहित्य-जगत में नई धाराओं, प्रवृत्तियो, आन्दोलनों का उदय होता रहता है। साहित्य की गतिशीलता का यह सबसे बड़ा कारण है। किसी लेखक विशेष के कारण साहित्य में युगांतर नहीं होता। युगांतर होता है ठोस भौतिक परिस्थितियों में आने वाले परिवर्तनों के आधार पर।"[6] सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति के कारण साहित्य में परिवर्तन होता है कोई भी परिवर्तन या आन्दोलन बिना समय के माँग या परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना नहीं होता है। दलित साहित्य आन्दोलन की ही देन है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था ने समाज कई वर्गों में बाँट रखा था जिससे कई वर्षो से उच्च जातियाँ निम्न जातियों पर अन्याय एवं अत्याचार कर रहा है, जिसके फलस्वरूप आधुनिक काल में स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय के लिए दलित समाज ने अभियान चलाया। "मानव-चेतना, नवचेतना जनजागृति साहित्य की आत्मा है। साहित्य का केंद्र बिंदु में मानव, मूल में मानव, परिधि में मानव ही है। अतः उसकी ही कथा, आत्मकथा है, मानव, उसका जीवन, समाज जीवन, मानवहित, समाजहित, मानव कल्याण ही इसका लक्ष्य रहा है। अपने लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए मानव प्रयत्नशील रहता है, उसकी जो कथा निर्मित होती हैं, वह हिंदी की आत्मकथा हैं, जो ढेरों है।"[7] साहित्य किसी भी भाषा में रचा जायेगा तो उसके केंद्र में मनुष्य कल्याण की ही बात होगी। साहित्य की सभी विधाओं के केंद्र में मनुष्य और समाज को एक नई दिशा देने की बात की गई है। अनुभवों एवं विचारों को अभिव्यक्त करने का साहित्य एक

सशक्त माध्यम है। हिंदी साहित्य में रचना का सर्वप्रथम माध्यम काव्य ही था लेकिन आधुनिक समय में गद्य में भी रचना हो रही है, जिसमें उपन्यास, कहानी, नाटक, जीवनी, संस्मरण, आत्मकथा आदि विधाएँ साहित्य का अंग बनी। इसी क्रम में हिंदी साहित्य में कल्पना के साथ-साथ यथार्थ रूप भी आया, जिसमें आत्मकथा ने यथार्थवादी रूप में अपने आप को स्थापित किया। साहित्य हमेशा से ही यथार्थ और सच्चाई की माँग करता रहा है और आत्मकथा में ये दोनों तत्व मिलते है, साथ ही साथ आत्मकथा अपनी कथा के साथ-साथ समाज एवं उस समय की परिस्थितियों की भी बात करता है इसलिए हिंदी साहित्य के आधुनिक काल में आत्मकथा विधा बहुत प्रचलित हुई। यह एक स्वतंत्र साहित्यिक विधा है। कुछ आलोचक इसे जीवनी का ही स्वरूप मानते है लेकिन आत्मकथा एवं जीवनी को एक विधा कहना उचित नहीं है। आधुनिक काल में इस विधा का उदय हुआ और रचनाकारों के द्वारा विकास प्रक्रिया आगे बढ़ी। "'आत्म' शब्द अपने साथ कर्म सिद्धांत लेकर आता है। कर्म सिद्धांत का संबंध वर्ण-व्यवस्था के साथ है।... यहाँ की संस्कृति ने आत्मा की अवधारणा द्वारा शोषण का ऐसा विलक्षण दर्शन, विषमता का जहरीला विचार-व्यूह भी प्रस्तुत किया है, जो विश्व के किसी भी देश या समाज में नहीं है। दलितों के शोषण की केंद्रवर्ती आधारशिला ही यह आत्मा-शब्द है। इस शब्द का प्रयोग दलितों के स्वकथन के साथ लगाना वास्तव में उनकी नास्तिक (बौद्ध) प्रेरणाओं का मजाक उड़ाना है। इस कारण दलितों के अनुभव कथन पर लेखक के लिए 'स्वकथन' शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए।"[8] आत्मकथा में आत्म शब्द का आत्मा से कोई सरोकार नहीं है वह लेखक के व्यक्तित्व के अर्थ में प्रयोग होता है। कथा काल्पनिक कहानियों में होता है, लेकिन दलित जीवन में कथा यथार्थ और वेदनापूर्ण है। डॉ. रामचंद्र तिवारी ने 'हिंदी का गद्य-साहित्य' में दलित आत्मकथाओं के विषय में लिखा है कि "दलित लेखकों की आत्मकथाओं में उनके शताब्दियों से शोषित-दमित मन का दर्द, तल्खी और क्षोभ के रूप में व्यक्त हुआ है। यह कथाएँ साक्षी हैं कि आज भी हमारे समाज में सामंती संस्कार हावी हैं। जनतांत्रिक व्यवस्था, और सामाजिक समरसता की बात करने वाले हमारे देश के कर्णधारों की आँखें समय रहते न खुलीं तो इन लोगों का दर्द शोला बनकर

दहक सकता है।"[9] दलित समाज को ब्राह्मणवादी, सामंतवादी व्यवस्था ने जिस तरह से शोषण का शिकार बनाया है, अगर समय रहते इन पर ध्यान नहीं दिया गया तो लोकतांत्रिक व्यवस्था और सामाजिक समरसता की बात कहना इस समाज के लिए बेमानी हो जाएगा।

आत्मकथा में लेखक स्वयं के व्यक्तित्व का निरीक्षण करता है, और अपने बीते हुए जीवन की एक पृष्ठभूमि पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इस पूरी प्रक्रिया में मुश्किल यह होती है कि आत्मकथा लेखन की शैली किस प्रकार प्रस्तुत की जाए, क्योंकि अपने विषय में तटस्थ रहकर कुछ भी लिखना मुश्किल होता है इसके बावजूद आत्मकथाकार विश्लेषणात्मक शैली का प्रयोग करते हुए, अपनी जीवन-गाथा को सतर्कता के साथ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। आत्मकथा एक व्यक्ति की समस्त जीवन का इतिहास ही नहीं बल्कि उस में वर्णित घटनाओं की क्रिया एवं प्रतिक्रिया का भी अंकन है।

आधुनिक हिंदी साहित्य को गद्य विधाओं का विकास युग माना जाता है। उपन्यास, कहानी, निबंध, नाटक, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, आत्मकथा आदि विधाएँ आधुनिक युग में विकसित हुई  हैं। इनमें से कुछ ऐसी विधाएँ भी हैं, जिनके तत्व एक दूसरे से बहुत मेल खाते हैं। "श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा भी है- "संस्मरण, रेखाचित्र और आत्मचरित इन तीनों का एक दूसरे से इतना घनिष्ठ संबंध है कि एक की सीमा दूसरे से कहाँ मिलती है और कहाँ अलग हो जाती है, इसका निर्णय करना कठिन है।"[10] हिंदी साहित्य में आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र इन विधाओं के तत्त्व एक जैसे मालूम पड़ते हैं, लेकिन इनमें भी भिन्नताएँ होती हैं, और इन्हीं आधारों पर इनका वर्गीकरण भी किया गया है। "जीवनी: जब कोई लेखक किसी विशेष व्यक्ति के जीवन की वास्तविक घटनाओं एवं परिस्थितियों का कलात्मक रूप से वर्णन करता है तो साहित्य का वह रूप जीवनी कहलाता है। 'जीवनी साहित्य' का भवन अनुभूति और साक्षात्कृत सात्यों की आधारशिला पर प्रतिष्ठित है। जीवन में स्वप्न जिस सीमा तक यथार्थ में ढल चुका है, अभिव्यक्त हुआ है, उसी सीमा तक जीवन-साहित्य उसका वाहक बनता है। अनुभव की सीमा में न अँटने वाला यथार्थ जीवन-

साहित्य सृष्टि की दृष्टि में मिथ्या से भिन्न नहीं होता है। जीवन के निष्कर्ष पर अपनी विशुद्धि प्रमाणित न कर पाने वाला सत्य जीवनी साहित्य के लिए अभिनंदनीय नहीं होता।"[11] जीवनी साहित्य किसी अन्य व्यक्ति द्वारा किसी महापुरुष के विषय में लिखा जाता है, जिससे जनता उससे प्रेरणा प्राप्त कर सके। इसी के कारण रचनाकार जीवन के कई ऐसे प्रसंगों को छोड़ देता है जिससे वह मनुष्य स्वरूप नहीं व्यवहार करता है, और उनकी प्रशंसा में उसे देवतुल्य बना देता है। जीवनी लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह तटस्थ रहकर जीवनीकार के दोनों चरित्र स्थितियों का चित्रण करें। जीवन-चरित्र की एक समस्या यह भी है कि लेखक जीवनीकार के विषय में जो देख पाते हैं और जो लोगों के द्वारा बताया जाता हैं उन्हीं का वर्णन करते हैं बाकी पक्ष छूट जाता है। आत्मकथा लेखन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि रचनाकार स्वयं अपनी संपूर्ण जीवन-गाथा कहता है और अपनी उन घटनाओं का विश्लेषण स्वयं करने के बाद पाठकों पर छोड़ देता है।

आधुनिक हिंदी की अन्य गद्य विधाओं में रेखाचित्र भी एक नवीन गद्य विधा है। 'रेखाचित्र में भी किसी व्यक्ति, वस्तु या संदर्भ का अंकन किया जाता है। यह अंकन पूर्ण तरह पूर्णत: तटस्थ भाव से निर्लिप्त रहकर किया जाता है। रेखाचित्र में रेखाएँ बोलती हैं। जिस प्रकार कुछ थोड़ी-सी रेखाओं का प्रयोग करके रेखाचित्रकार किसी व्यक्ति या वस्तु की मूलभूत विशेषता को उभार देता है, उसी प्रकार कुछ थोड़े से शब्दों का प्रयोग करके साहित्यकार किसी व्यक्ति या वस्तु को उसकी मूलभूत विशेषता के साथ सजीव कर देता है। रेखांकन करते समय वह अपने को तटस्थ रखने की चेष्टा करता है। वस्तु को ही महत्व देता है। विषय को ही रूपायित करता है जब कभी उसकी तटस्थता भंग होती है, तो रंगों की चटक में रेखाएँ डूब जाती है।"[12] इस विधा को 'शब्द चित्र' के नाम से भी जाना जाता है। चित्रों का सहारा लेकर लेखक किसी भी व्यक्ति अथवा घटना का चित्रण करता है इसलिए इसे रेखाचित्र कहते हैं। शब्दों में यह ताकत विद्यान रहती है जिसके माध्यम से किसी घटना को सजीव रूप दिया जाता है।

"संस्मरण किसी स्मर्यमाण की स्मृति का शब्दांकन है। स्मर्यमाण के जीवन के वे पहलू, वे संदर्भ और वे चारित्रिक वैशिष्ट्य जो स्मरणकर्ता को स्मृत रह जाते हैं, उन्हें वह शब्दांकित करता है। स्मरण वही रह जाता है, जो महत्, विशिष्ट, विचित्र और प्रिय हो। स्मर्यमाण को अंकित करते हुए लेखक स्वयं भी अंकित होता चलता है। संस्मरण में विषय और विषयि दोनों ही रूपायित होते हैं। इसलिए इसमें स्मरणकर्ता पूर्णत: तटस्थ नहीं पाता। वह अपने को 'स्व' का पुनः सर्जन करता है।"[13] इस विधा में रचनाकार अपनी स्मरण शक्ति के द्वारा जो भी बातें उसे याद रह जाती हैं वह व्यक्त करता है। व्यक्ति को याद वही घटना रह जाती है जो विशेष और विचित्र हो, बाकी अन्य सामान्य घटनाएँ व्यक्ति भूल जाता है। इस आधार पर इसमें रचनाकार की संस्मरण शक्ति का प्रयोग ज्यादा होता है इससे लेखक के स्वभाव एवं रुचि का भी पता चलता है। आत्मकथा स्वयं द्वारा लिखी हुई रचना होती है, जिसमें व्यक्ति अपनी समग्र जीवन-गाथा का वर्णन करता है। वह अपने पूरे जीवन के संपूर्ण घटनाओं का एक कच्चा चिट्ठा रखता है, कच्चे चिट्ठे से अभिप्राय है आत्मकथाकार केवल अपने सुख की घटनाओं का ही नहीं बल्कि दुख एवं शोक की घटनाओं को भी पूर्ण स्थान देता है। वह निसंकोच भाव से अपने संपूर्ण जीवन को प्रस्तुत करता है। "आत्मकथाकार का मुख्य विषय अपनी बीती हुई जिंदगी का फिर से व्यक्तीकरण करना ही होता है, इसलिए वर्ण्य विषय आत्मकथा का प्रमुख तत्त्व स्वीकार किया गया है। आत्मकथा लेखक के व्यक्तित्व के अनुरूप ही विषय का प्रस्तुतीकरण होता है। यदि आत्मकथाकार साहित्यिक है, तो उसकी आत्मकथा में तत्कालीन साहित्य की परिस्थितियों का भी वर्णन होगा। इसी प्रकार यदि आत्मकथा लेखक सामाजिक है, तो उसकी आत्मकथा में सामाजिक परिस्थितियों का अंकन होगा। यही बात धार्मिक व्यक्ति की आत्मकथा के संबंध में भी है। कहने का आशय यह है कि आत्मकथाकार का तत्कालीन परिस्थिति से कोई मतलब नहीं होता किंतु चूँकि वह भी एक सामाजिक प्राणी होता है, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से उसकी कृति में परिस्थिति का मूल्यांकन हो जाता है।"[14] आत्मकथा विधा में सत्यता और यथार्थ का प्रमुख गुण का विषय काल्पनिक न होकर वास्तविक होता है। आत्मकथा में रोचकता का भाव भी दिखाई देता है, और दलित आत्मकथा में यह

अवश्य दिखाई देती है कि जिससे वह अपने अतीत की घटनाओं का वर्णन करते हैं। जिसको पाठक रुचि के साथ पढ़ता है। आत्मकथा में चरित्र-चित्रण के साथ रचनाकार अपने जीवन-चरित्र का वर्णन करता है, साथ ही साथ अपने से संबंध रखने वाले व्यक्तियों के भी चरित्र पर प्रकाश डालता है। इस प्रवृत्ति से दो लाभ होते हैं- एक तो लेखक की व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है। दूसरा- उस व्यक्ति के विषय में पाठक को पता चल जाता है जो उस के पात्र होते हैं। हिंदी गद्य विधाओं में देशकाल एवं वातावरण का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है, जिसमें रचनाकार अपने परिवेश एवं अपने चारों तरफ फैली हुई परिस्थितियों का वर्णन करता है। आत्मकथाकार अपने जीवन संघर्षों और उन परिस्थितियों से कैसे लड़ता है, जूझता है, और अपनी जिंदगी कैसे व्यतीत करता है, इन्हीं परिस्थितियों से लड़कर लेखक अपने व्यक्तित्व को निखारता है। 'देशकाल' वातावरण में दोनों स्थितियाँ होती हैं। रचनाकार को यह दोनों स्थितियों के बारे में जानकारी होनी चाहिए और उनका वर्णन अपनी रचना में करना चाहिए। आत्मकथा साहित्य हिंदी का एक उद्देश्यपूर्ण विधा है। दलित आत्मकथाकारों का उद्देश्य सामाजिक समरसता, लोकतांत्रिक समाज और शोषण मुक्तसमाज बनाना है इसलिए दलित आत्मकथाएँ प्रेरणा के स्वरूप में देखी जाती हैं। वह बहुतायत मात्रा में लिखी भी जा रही आत्मकथा की भाषा का प्रश्न जहाँ तक है, भावनाओं को व्यक्त करने के लिए भाषा ही माध्यम है। आत्मकथा लेखन के लिए सरल, स्पष्ट एवं भावानुकूल भाषा का प्रयोग होता है, जिससे आत्मकथा सजीव हो जाती है और अधिक मात्रा में पाठक को प्रभावित करती है। आत्मकथा की शैली प्रभावपूर्ण हो जिससे पाठक को पढ़ने में रोचकता उत्पन्न हो। इस प्रकार भाषा-शैली में भाषा के शब्द पर वाक्य उक्त शैलियों के विभिन्न रूप आदि का क्षेत्र सम्मिलित होता है, बिना भाषा और शैली के आत्मकथा की रचना संभव ही नहीं है।

आत्मकथा लेखन बहुत ही सच्चाई और ईमानदारी की माँग करता है जिसमें व्यक्ति अपनी प्रिय बातों के साथ-साथ अप्रिय बातों की चर्चा करता है। अधिकतर रचनाकार अपनी जीवन की प्रेम और युवा समय  से संबंधित बातों को बताने से संकोच करते हैं लेकिन आत्मकथा लेखन में सम्पूर्ण घटनाक्रम का वर्णन मिलता है, जिससे घटना को यथार्थ रूप देता है तभी वह आत्मकथा विधा के

साथ न्याय कर पाता है। आत्मकथाकार जब भी अपने जीवन की घटनाओं को लिपिबद्ध करता है तो उसमें ऐतिहासिकता का पुट आना स्वाभाविक है इसलिए रचनाकार को अपने जीवन में किसी घटना या आंदोलन के संपर्क में है तो उसका वर्णन अपनी रचना में अवश्य करना चाहिए। जिससे आने वाली पीढ़ियाँ उसकी रोचकता और उपयोगिता को जान सकें और उस समय की मनोवृत्ति को समझ सके। आत्मकथात्मक शैली की सबसे बड़ी विशेषता उसकी विश्वसनीयता और प्रमाणिकता है अगर यही दोनों निकाल दिये जायें तो यह कहानी या उपन्यास की विधा के रूप में स्थापित हो जायेंगे। भाषाई रूप में देखेंगे तो आत्मकथाकार जिस परिवेश में रहता है उस परिवेश की भाषा का पुट उस आत्मकथा में जरूर होता है जिससे उस समय की भाषा और भाषा में आ रहे परिवर्तनों को देखा जा सके और समझा जा सके। आत्मकथाकार का लिखने का मुख्य उद्देश्य होता है उसका आत्मपरीक्षण या आत्म निरीक्षण करना और वह आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए उदाहरण और एक रास्ता बना सके, जिससे कि आगे आने वाली पीढ़ियां उस रास्ते पर चले। आत्मकथा का मुख्य उद्देश्य समाज के अंतर्गत धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिवर्तनों का अध्ययन करना भी एक मुख्य कार्य माना जा सकता है जिससे आगे आने वाले लोगों के लिए उस समस्या या उस समय को समझना आसान हो जायें।

आत्मकथा साहित्य की विधा होने के साथ-साथ अपने आप में भी उसके कई प्रकार हैं धार्मिक व्यक्तियों की आत्मकथा, दूसरे मनुष्यों को प्रेरित करने के लिए याद कथाएँ लिखी जाती हैं और हिंदी में राजनैतिक आत्मकथाएँ भी लिखी गई है। राजनैतिक नेता अपने जीवन संघर्ष में राष्ट्रीय समस्याओं का चित्रण करने के लिए आत्मकथा की रचना करता है जिसे हम राजनीतिक व्यक्तियों की आत्मकथा कहते हैं जो हिंदी में बहुत लोकप्रिय हुई है साहित्यकारों ने भी आत्मकथाएँ लिखी हैं जो की बहुत ही रोचक है, जिसमें साहित्यकार ने अपने व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ सामाजिक एवं साहित्यिक जीवन की चर्चा भी की है इस आधार पर देखें तो आत्मकथा धार्मिक, राजनीतिक, साहित्यिक आत्मकथा लेखन देखने को मिलता है।

## 2.1 हिंदी आत्मकथा परम्परा में दलित आत्मकथाएँ:

आत्मकथा की परम्परा समझाने से पहले आत्मकथा के विषय में जानना आवश्यक है। हिंदी साहित्य कोश में आत्मकथा को परिभाषित किया गया है- "आत्मकथा लेखक के अपने जीवन से सम्बद्ध वर्णन है। आत्मकथा के द्वारा अपने बीते हुए जीवन का सिंहावलोकन और एक व्यापक पृष्ठभूमि में अपने जीवन का महत्व दिखलाया जाना संभव है।"[15] आत्मकथा में लेखक अपने जीवन के सभी पहलू का वर्णन और पूरे जीवन का विवेचन भी देखने को मिलता है। बृहत हिंदी कोश में आत्मकथा का वर्णन इस प्रकार मिलता है- "अपनी जीवन कहानी, स्वलिखित जीवन-चरित्र।"[16] अपने जीवन की कहानी का मूल्यांकन का अवसर भी आत्मकथा देती है, जिससे आने वाले समय में समाज उससे दिशा प्राप्त कर सके। बाबू गुलाब राय ने आत्मकथा को परिभाषित करते हुए लिखा है कि-"आत्मकथा लेखक जितना अपने बारे में जान सकता है, उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता। परंतु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति बाधक होती है और किसी के साथ शील-संकोच आत्मप्रकाश में रुकावट डाल देता है। यद्यपि सत्य की आदर्श से दोनों की प्रवृत्तियां निंद्य हैं, तथापि आत्मविचार कुछ अधिक अवांछनीय है।"[17]

डॉ. शांति स्वरूप गुप्ता "आत्मकथा लिखना सुखद कार्य तो है क्योंकि उसमें व्यक्ति को अपने विषय में कहने का अवसर मिलता है। पर वह कठिन इसलिए है कि उसमें लेखक को निष्पक्ष होना पड़ता है कटु सत्यों का उद्घाटन करना पड़ता है, अपने दोषों को प्रस्तुत करना पड़ता है बस आज कार्य नहीं है।"[18] आत्मकथा लेखन अपने पुराने समय को जीने का एक अवसर देता है लेकिन यह कार्य बहुत ही कठिन होता है क्योंकि हमें अपने विषय में जो कुछ भी छिपाया होता है उसका भी उल्लेख करना पड़ता है ज्यादातर घटना व्यक्ति के सामाजिक प्रतिष्ठा में चोट करने वाली होती है जिनको सभी उजागर नहीं करना चाहते है लेकिन आत्मकथा यह माँग करती है कि जीवन की सभी घटना का उल्लेख लेखक करे इसलिए यह विधा लेखक के लिए मुश्किल प्रतीत होती है। डॉ. नगेंद्र ने कहा है कि- "जब कोई व्यक्ति अपनी जीवनी स्वयं लिखता है, तब उसे आत्मकथा कहते हैं।"[19]

आत्मकथा आधुनिक काल की विधा नहीं बल्कि मध्यकाल में ही बनारसीदास जैन ने 1641ई. में 'अर्द्धकथा' पद्यात्मक शैली में ही आत्मकथा लिखी थी। पर बाद के समय में यह विधा भारतेंदु युग में आकर अपने स्वरूप को प्राप्त करती है। "पाश्चात्य साहित्य में उपलब्ध आत्मकथा की जानकारी के अनुसार अंग्रेजी लेखक डेक्किन्सी (कन्फेशन्स ऑफ अन इंग्लिश ओपियम इंटर ,1822) तथा फ्रेंच लेखक आलफ्रेड द म्युसे ( 1836, इं. शी. कन्फेशन्स ऑफ अ चाइल्ड ऑफ द सेंच्यूरी) इन लेखकों ने सबसे पहले पाश्चात्य साहित्य में आत्मकथाएँ लिखने की नींव, परम्परा प्रारंभ की है। इसके बाद फिर कई लेखकों ने अपने-अपने जिंदगी की आत्मकथा लिखने की शुरुआत की। जॉन बन्यन का 'ग्रेस आबउडींग टू द चीफ ऑफ सिनर्स (1666) रिचर्ड बक्टर का Religuiae Baxterianae (1696) और केकर पंथीय जार्ज फाक्स की आत्मकथा (1694) जैसी में आध्यात्मिक आत्मकथन उपलब्ध है, जिसमें काफी ईमानदारी है।"[20] अंग्रेजी साहित्य की अन्य आत्मकथा कवि ली हंट (1950), चित्रकार हेडन (1853), अंग्रेजी दार्शनिक जे. एस. मिल (1973) उपन्यासकार अंथनी ट्रूलप (1883), डार्विन चार्ल्स (1887), गोर्गी की आत्मकथा तीन भागों में है लेकिन प्रत्येक भाग स्वतंत्र है। पहला भाग 'मेरा बचपन' दूसरा भाग 'जनता के बीच' और तीसरा भाग 'मेरे विश्वविद्यालय'। भारत में भी कई भाषाओ में आत्मकथा लिखी गई, जिसमे महात्मा गाँधी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग', स्वामी दयानंद लिखित 'जीवन यात्रा', राहुल सांकृत्यायन लिखित 'मेरी जीवनयात्रा', डॉ.. राजेंद्र प्रसाद कृत 'आत्मकथा', पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र की 'अपनी खबर' आत्मकथाएँ कही जा सकती है। प्रसिद्ध कथाकार यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' तीन भागों में क्रमश: सन 1952, 1955 तथा 1959 में प्रकाशित हुए। उनकी इस आत्मकथा में व्यक्तिगत जीवन के साथ क्रांतिकारी दल का वर्णन भी मिलता है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की आत्मकथा 'स्वतंत्रता की खोज में' (1959) नेत्रहीन व्यक्ति साधनहीन होने पर भी मानवीय स्वतंत्रता के प्रचार प्रसार के लिए कष्ट सहन करते हुए देश-विदेश की यात्रा की। देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्मकथा दो भागो 'चाँद सूरज के वीरन' तथा 'निलयक्षिणी' में प्रकाशित हुआ है। पहले भाग में अपने बचपन, शिक्षा संबंधी

तथा साहित्यिक जीवन के अंश को उल्लेखित किया है, दूसरे भाग में पढाई के बाद का वर्णन मिलता है। नाटककार सेठ गोविंददास ने 'आत्मनिरीक्षण' आत्मकथा में महात्मा गाँधी और जवाहर लाल नेहरू के विचारों की आलोचना करने में भी झिझक नहीं दिखाई है। तो इस प्रकार यह कहा जा सकत है कि विश्वभर में अनेक देशों और अनेक भाषाओं में आत्मकथाएँ लिखी गई है। हिंदी भाषा में भी आत्मकथा की अपनी एक समृध्द और प्रभावशाली साहित्यिक चेतना के दर्शन होते है। देवराज उपाध्याय की आत्मकथा 'बचपन की दो दिन' तथा 'यौवन के द्वार पर' दो भागों में प्रकाशित हुई है इस कृत्य में लेखक ने मनोविश्लेषण के आधार पर अपने जीवन की प्रवृत्तियों को देखा है निबंधकार पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने 'मेरी अपनी कथा' में अपने जीवन के क्रम एवं अपने समय के साहित्य एवं साहित्यकारों और साहित्यिक पर विषयों पर प्रकाश डाला है हिंदी के लोकप्रिय कवि डॉ. हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा 'क्या भूलूं क्या याद करूं' तथा 'नीड का निर्माण फिर' दो भागों में प्रकाशित हुई। इसके बाद 'बसेरे से दूर' तथा 'दशद्वार से सोपान तक' आत्मकथा के दो भाग और प्रकाशित हुए 'दशद्वार से सोपान तक' के लिए बच्चन जी को 'सरस्वती पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था। वृंदावन लाल वर्मा की 'अपनी कहानी' उनके जीवन संघर्ष की कथा दर्शाती है। कृष्ण चंद की आत्मकथा 'आधे सफर की पूरी कहानी' इसमें लेखक ने अपने जीवन के साथ-साथ देश की परिस्थितियों को एक साथ प्रस्तुत किया है। रामदरश मिश्र की आत्मकथा 'जहां मैं खड़ा हूँ' प्रकाशित हुई जिसमें लेखक ने पूर्वी उत्तर प्रदेश के गाँव की जिंदगी ज्यों की त्यों दिखाई है। हंसराज रहबर की आत्मकथा 'मेरे साथ जन' के अब तक 2 खंड प्रकाशित हो चुके हैं। अपने जीवन के बहाने पंजाब के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवेश के विस्तार को अंकित किया है। नरदेव शास्त्री कृत 'आप बीती जग बीती' की खूबी यह है कि भारतीय समाज पर आर्य समाज के विभिन्न प्रभावों को रेखांकित करती है। मोरारजी देसाई की आत्मकथा तीन भागों में प्रकाशित हुई जिसमें दो भाग 'मेरा जीवन वृतांत'में प्रकाशित हुई, हिंदी तथा अंग्रेजी में एक साथ प्रकाशित हुए तथा तीसरा भाग केवल अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ। लेखक ने निजी जीवन के साथ-साथ भारतीय उपमहाद्वीप की

राजनीतिक हलचल की भी चर्चा प्रस्तुत की है। भारतीय लेखकों में के एम मुंशी, काका कालेकर, विनायक दामोदर, सावरकर, डॉ. राधाकृष्णन, अबुल कलाम आजाद, रवींद्राथ ठाकुर, वेद मेहता, जोश मलीहाबादी, अमृता प्रीतम, कमला दास, मिल्खा सिंह, मोहम्मद यूनुस, बलवंत गार्गी तथा करतार सिंह दुग्गल, करण सिंह आदि ने अपनी आत्मकथा लिखी है, तथा विदेशी लेखकों में हिटलर, टॉलस्टॉय, हेलेन, केलर खान की आत्मकथाएँ उल्लेखनीय है।

आत्मकथा सामाजिक जीवन एवं संस्कृति को विश्लेषित करती है। आत्मकथा भी अन्य विधाओं की भांति साहित्यिक मूल्य लिए हुए है अतः इसका भी तात्विक विवेचन होना आवश्यक हो जाता है। आत्मकथाओं के तत्वों के संबंध में डॉ.. सरजू प्रसाद मिश्र लिखते है कि "आत्मकथा में 'आत्म' तत्व सर्वोपरि होता है यों तो गद्य-पद्य की सभी विधाओं में यह तत्व अंतर्धारा के रूप में बसा रहता है लेकिन गद्य की सर्वाधिक लोकप्रिय होती जाती विधा आत्मकथा का तो सारा दारोमदार इसी पर टिका रहता है। इस विधा की तो प्रतिज्ञा ही है कि 'सच, सच के सिवा कुछ भी नहीं। जिसमें सच कहने का साहस जितना ज्यादा होती है उसकी आत्मकथा उतनी ही श्रेष्ठ होती है।"[21] आत्मकथा में आत्म तत्व प्रमुख होता है जिसमें लेखक आत्मकथा का नायक होता है। पाठक लेखक के जीवन से संबंधित संघर्षों एवं घटनाओं को विस्तार से जानना चाहता है। घटनाओं एवं संघर्षों के बीच लेखक का चरित्र उभरकर सामने आता है, लेकिन लेखक को अपने जीवन की किसी भी घटना को बताने में संकोच नहीं करना चाहिए। आत्मकथा में आत्मतत्व के बाद कथातत्व आता है। कथा में वास्तविकता एवं यथार्थ ज्यों का त्यों रखना आवश्यक होता है। जब कभी लेखक अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को कल्पना के माध्यम से अंकित करता है तो वह उपन्यास की श्रेणी में आती है। "आत्म तत्व के साथ तटस्थता का होना आत्मकथाओं की सृष्टि के लिए आवश्यक है। कथाकार कहानियों की रचना करने के लिए अपने द्वारा सृजित पात्रों को पूरी तरह से स्वयं के जीवन में मिलकर-जोड़कर सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत करता है और अपने और पराए के भेद को समाप्त कर पात्र के साथ एकरस और एकाकार हो जाता है। लेकिन आत्मकथा की रचना करते समय लेखक को बहुत हद तक स्वयं के प्रति

भी तटस्थ होना पड़ता है।"[22] आत्मकथा में परिवेश भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि किसी का भी जीवन परिवेश के माध्यम से तय होता है। परिवेश के भी कई रूप है- पारिवारिक, वर्ग, सांस्कृतिक, भौगोलिक। पारिवारिक परिवेश में व्यक्ति के जन्म से लेकर लेखन कार्य तक की पूरे जीवन में किस प्रकार उसका परिवार उसको प्रभावित करता है। भारतीय समाज मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित है, उच्च वर्ग, माध्यम वर्ग, निम्न वर्ग। लेखन जिस वर्ग से होता है उसके लेखन में उसका दार्शनिक पक्ष सामने आता है। देशकाल, काल और वातावरण में लेखक अपने भौगोलिक स्थिति से भी समस्या होती है, और वह आत्मकथा में प्रमुख रूप से आती है।

हिंदी आत्मकथा के आरम्भिक रूप की बात की जाये तो साहित्य में वैयक्तिक अनुभवों की बहुलता है। हिंदी में आत्मकथा लेखन की परम्परा बहुत पुरानी तो नहीं है लेकिन शिल्प एवं कथ्य के प्रतिमानों को पूरा करते है। इसमें हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' 'नीड़ का निर्माण फिर' 'बसेरे से दूर' 'दशद्वार से सोपान तक' हिंदी साहित्य के लिए मील का पत्थर साबित हुई। इसके लिए बच्चन जी को 'सरस्वती सम्मन' भी दिया गया। हिंदी साहित्य की अन्य आत्मकथाएँ जिसमे डॉ.. देवराज उपाध्याय की 'यौवन के पार द्वार', वृन्दावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी' बलराज साहनी की 'मेरी फ़िल्मी आत्मकथा' डॉ.. राम विलास शर्मा की 'घर की बात' शिव पूजन सहाय की आत्मकथा 'मेरा जीवन' फणीश्वरनाथ रेणु लिखित 'आत्मपरिचय' उल्लेखनीय है जिसने हिंदी के आत्मकथा लेखन की भूमि तैयार की।

दलित आत्मकथा के लिए दलित साहित्य का अपने अधिकार एवं अस्मिता के प्रति जागरूकता पैदा करने को मुख्य माना है। दलितों में अपने अधिकार के प्रति चेतना पैदा हुई उसको लेखन के माध्यम से समाज के उच्च वर्ग की सच्चाई को सामने रखा है। हजारों वर्षो से सवर्णों ने दलितों का शोषण किया एवं उनसे बेगार कराया। "बेशक, दलित आत्मकथाओं ने अपना प्रयोजन सिध्द किया। ये अपने समाज का प्रमाणिक आईना बनीं, अत्याचारों और दु:खो का विश्वसनीय दस्तावेज। दलित सोच को दिशा देने, दलित चिंतन को आगे बढ़ाने में भी इसकी खासी भूमिका है।

समूचे भारत में दलित साहित्य आन्दोलन की पहचान बहुत कुछ इन आत्मकथाओं ने बनाई है। हिंदी क्षेत्र में, हालाँकि चर्चा तो बहुत हुई, पर दलित आत्मकथाओं की संख्या बहुत कम है। बेहतर आत्मकथाओं की अभी बहुत जरुरत है। स्मृतियों की चित्तवृतियों का प्रतिबिम्ब करने, व्यक्ति के वैशिष्ट्य को उभारने और स्वस्थ लोकतान्त्रिक समाज का प्रारूप रचने में आत्मकथा लेखन की सार्थक भूमिका हो सकती है, होती है।"[23] हिंदी में किसी न किसी रूप में फिर चाहे वह कविता या पद ही क्यों न हो, आत्मकथ्य की उपस्थिति मिलती है। दलित लेखन की उपेक्षा करते रहने के कारण दलित लेखन मुख्यधारा में नहीं था। आज दलित आत्मकथा लेखन अपने उत्कर्ष पर है। लेखन के निरंतर विकास के लिए यहाँ तक की यात्रा में की महत्त्वपूर्ण स्थान आये हैं। हिंदी आत्मकथा की विकास यात्रा में बहुत सी आज प्रेरक आत्मकथाएँ हमारे सामने आई हैं जिन्हें शिल्प, प्रस्तुतीकरण, पठनीयता, यथार्थ, वास्तविकता और व्यक्तिगत जीवन का सच सामने लाने का साहस आदि कसौटियों पर खरी उतरी है। डॉ.. बापूराव देसाई ने आत्मकथाओं के लिए कुछ मानदंड निश्चित करने का प्रयास किया है जैसे कि "आत्मकथा में कल्पना विस्तार न हो, अतिशयोक्तिया प्रन्शासत्मक लेखन न हो, आत्ममोह का त्याग हो, सच और गहन आत्मपरीक्षण के साथ लिखी गई हों तथा उसमें आत्मलोचन के साथ स्वयं के प्रति निर्ममता बनाये रखी गई हो।"[24] आत्मकथा लेखन को साहित्य के साथ-साथ इतिहास के दस्तावेज के रूप में भी देखा जाना चाहिए, इसीलिए आत्मकथा को सामाजिक एवं धार्मिक स्थितियों की यथार्थ की परख के रूप में लिखा जाना चाहिए। आत्मकथा को उसके उत्कर्ष रूप में ले जाने में उपरोक्त प्रतिमानों का मुख्य स्थान है। आत्मकथा विधा को उन्नत करने के प्रयास हमेशा से ही साहित्य में हो रहा है मुख्यधारा के साहित्यकार अपनी आत्मकथा के विषय में लिख रहे है लेकिन भारतीय समाज में वर्ग, जाति, लिंग के आधार पर हमेशा से शोषण होता रहा है और शोषितों को उनके अधिकारों से वंचित किया जाता रहा है। वंचित समाज के लोगों को लेखन का भी अधिकार नहीं था। आजादी के बाद साहित्य में क्रांतिकारी दौर आया जिसमे दलित लेखन ,स्त्री लेखन ने भी साहित्य लेखन में उपस्थिति दर्ज कराई।

दलित और स्त्री लेखन की शुरुआत साहित्य में होती है तो उसके सामने कई प्रश्न खड़े होते है कि "पहली, वर्णवाद के पारस्परिक शास्त्रीय रूप के साथ उसके समकालीन रूपों और नए का संज्ञान लेना तथा प्रतिरोध की एक मुकम्मल और दीर्धकालीन योजना तैयार करना। दूसरी, पितृसत्ता की मजबूती को पहचानते हुए उसके विरुध्द सशक्त अभियान चलाना और दलित समाज के भीतर इसकी व्यक्ति को स्वीकारते हुए उत्पीड़ित दलित-स्त्री के पक्ष में खड़ा होना। और तीसरी, उन तमाम दलित समुदायों के बीच जाति की जकडबंदी को खुले मन से समझाने की कोशिश करना, उसे अपने व्यापक मूल लक्ष्य में शामिल मनाकर विमर्श का हिस्सा बनाना।"[25] दलित आत्मकथाएँ केवल उनके लेखकों के जीवन के तथ्यों - सत्यों, घटनाओं का व्यौरा देने वाली रचना नहीं है, बल्कि यह भारतीय समाज और विशेषकर हिन्दू समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, जातिगत पूर्वाग्रहों एवं घृणा को उदघाटित करने वाली रचनाएँ है। दलित आत्मकथाएँ शोषण, वेदना, पीड़ा, आदि का ही साहित्य नहीं है बल्कि वह अपनी अस्मिता, अपने अधिकार के लिए संघर्ष का साहित्य है। दलित चिंतको के लिए, दलित समाज, दलित आंदोलनों तथा दलितों के बारे में जानने के लिए ये आत्मकथाएँ महत्त्वपूर्ण हैं जिनसे समाजशास्त्री, दार्शनिक, राजनेता तथा सवर्ण एवं ब्राह्मणवादी मानसिकता के लोगो की सोच में परिवर्तन लाया जा सके। ये आत्मकथाएँ किसी व्यक्ति विशेष की जीवन की घटनाओ का विवरण मात्र नहीं है, बल्कि आलोचनात्मक दृष्टि से अनुभवों व घटनाओ का सर्जनात्मक संयोजन हैं।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था ही वर्ण आधारित रही है जिसको दलित लेखकों ने पहचान कर उसका विरोध दर्ज किया लेकिन यह व्यवस्था दलित समाज में भी थी तो दलित रचनाकार ने अपने समाज के जाति व्यवस्था को उजागर किया है और अम्बेडकरवादी तरीके से दूर करने के सुझाव भी दिये। स्त्रिओं को हमेशा से ही दोयम दर्जे का समझा जाता रहा है दलित समाज के भीतर भी महिलाएँ शोषण एवं उत्पीड़न की शिकार रही है। "स्वयं दलित विमर्श भी दलित स्त्री की पीड़ा की अनदेखी क्यों कर रहा है। वह दलित स्त्री के संदर्भ में पुरुषवादी वर्चस्व को कहीं न कहीं मौन सहमति देता है। दलित स्त्री के कठोर श्रम, अशिक्षा, सामाजिक व घरेलू शोषण पर दोहरे मानदंड अपनाए गये हैं। यह

स्थिति दलित विमर्श की मानववादी विचारधारा को आत्मावलोकन की आवश्यकता जताती है।"[26] मुख्यधारा की स्त्री का शोषण महिला होने के आधार पर होता है लेकिन दलित स्त्रिओं का शोषण दोहरा शोषण होता है एक तो दलित होने पर दूसरे महिला। दलित समाज में जो अंतर है उस पर तो खुल कर बात करता है लेकिन जो दलित समाज के भीतर जाति व्यवस्था और महिलाओं का शोषण है उस पर कुछ भी बोलने या लिखने से कन्नी काट लेता है, लेकिन आत्मकथाओं के माध्यम से यह विषय भी सामने आ रहा है।

हिंदी में दलित आत्मकथाओं की शुरुआत नौवे दशक में राज किशोर द्वारा सम्पादित पुस्तक 'हरिजन से दलित' में ओमप्रकाश वाल्मीकि के आत्मकथांश 'एक दलित की आत्मकथा' से मानी जाती है, जिससे हिंदी पाठकों एवं साहित्यकारों में दलित आत्मकथा के प्रति रुझान बढ़ा और यह साहित्य की प्रमुख विधा बनने लगी। इसी के प्रेरणा स्वरूप सन 1995ई. में मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा अपने-अपने पिंजरे (भाग-1और2) प्रकाशित हुई। फिर तो दलित आत्मकथाओं का दौर ही चल पड़ा। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन, जूठन-2, सूरजपाल चौहान की आत्मकथा तिरस्कृत, और 'संतप्त' कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप', डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', माता प्रसाद की आत्मकथा 'झोपड़ी से राजभवन', सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द', डॉ.. तुलसीराम की आत्मकथा दो भागो में 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका', डॉ. धर्मवीर की 'मेरी पत्नी और भेड़िये', विश्वनाथ राम की 'गोबरहा' आदि आत्मकथाएँ पिछले दो दशक में प्रकाश में आयी है।

"अपने-अपने पिंजरे से लेकर मणिकर्णिका व गोबरहा तक दलित आत्मकथा लेखन ने लम्बी यात्रा तय की है। उल्लेखनीय है कि भदेसपन के आरोपों का सुर 'मणिकर्णिका' तक आकर बदल गया। स्वयं इन आत्मकथाओं का भी आक्रोश, प्रतिशोधपूर्ण आक्रामक स्वर विकास दर्शाता है। इन आत्मकथाओं ने दलित जीवन की मूलभूत समस्याओं को भलीभांति उजागर किया है। उत्पीड़न, शोषण, गरीबी, अशिक्षा, जातिभेद, अस्पृश्यता, अंधविश्वास, कुप्रथा, पिछड़ापन, अज्ञानता,

आन्तरिक जातिवाद आदि ऐसी प्रमुख समस्याएँ हैं, जो लगभग सभी आत्मकथाओं में समान रूप से दिखायी देती हैं। ये आत्मकथाएँ सामाजिक विषमता, विसंगति के साथ व्यक्ति की उत्कृष्ट जिजीविषा को भी सामने लाती हैं।"[27] दलित आत्मकथाओं में समस्या के साथ-साथ उसके निदान के विषय पर भी बात करता है। उनके लेखन में जो विद्रोह की भाषा का प्रयोग है वह कुंठा के रूप में सामने आ रहा है यह कुंठा कई सालों के दमन का नतीजा है। दलित साहित्य के विधा को पढ़ते है तो उसकी भाषा श्लिष्ट भाषा नहीं है। इसका मुख्य कारण है कि दलित साहित्य प्रतिरोध और प्रतिक्रिया का साहित्य है। अतः इसमें आक्रोश आना स्वाभाविक है। "दलित साहित्य ने परम्परागत तत्सम प्रधान, सांस्कृतिक भाषा, काव्यशैली और प्रस्तुतीकरण को नकारकर जनसामान्य को समझने लायक सर्वग्राही भाषा का प्रयोग किया है। वह ऐसी भाषा का इस्तेमाल करता है, जो दलितों की पीड़ा, अपमान और व्यथा तथा जन-सामान्य की आशा-आकांक्षाओं के यथार्थ को सही अभिव्यक्त दे सके। इसलिए इसमें कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग हो जाता है, जो साहित्य के लिए अश्लील और वर्जित रहे हैं। जैसे- हगना, मूतना आदि। यद्यपि ऐसे शब्दों के प्रयोग स्त्री-लेखन और मार्क्सवादी लेखन में पहले भी हो चुके हैं। फिर भी कुछ आलोचक इसी कारण दलित साहित्य पर गन्दी और अश्लील भाषा के प्रयोग का आरोप लगाते हैं। उन्हें लगता है कि साहित्य का पाठ 'पवित्र' होना चाहिए; भले ही उसमें अभिजात्य संस्कारों की बनावटी भाषा का प्रयोग ही क्यों ना करना पड़े।"[28] ये शब्द आम बोलचाल की भाषा के शब्द है जिनका प्रयोग रोजमर्र की जिंदगी में करते है। सच तो यह है कि दलित समाज का यथार्थ मुख्यधारा के यथार्थ से अलग है वहाँ गन्दी नालियाँ, प्रदूषित वातावरण है उस परिवेश की भाषा को अश्लील कहना गलत है। दलित साहित्य को भाषा के आधार पर कई आरोप लगे जिसमे से "राजेन्द्र यादव जैसे लेखकों ने भी दलित साहित्य की भाषा पर सवाल उठाये हैं। लेकिन उनके सवालों का जबाब देते हुए कंवल भारती ने कहा है कि ...आलोचक अक्सर यह भूल जाते हैं कि दलित लोगों को सवर्ण लोग कैसी-कैसी गालियों से नवाजते हैं, उनके प्रति उनकी कितनी अशिष्ट भाषा होती है? और क्या वे नहीं मानते कि हिन्दू धर्म के शास्त्र दलित-शूद्रों को शिष्ट और संस्कृत भाषा बोलने का निषेध करते हैं। इस

सम्बन्ध में नाम और भाषा को लेकर दलितों के साथ अनेक अत्याचार हुए हैं। आज भी गाँवों में दलित बच्चों का कोई अच्छा नाम किसी सवर्ण बच्चे से मेल खा गया, तो उसे नाम बदलने पर मजबूर कर दिया जाता है।"[29] किसी भी साहित्य की भाषा वहाँ के परिवेश पर निर्भर करती है दलित साहित्य की भाषा परिवेश से कैसे भिन्न हो सकती है। दलित साहित्य यथार्थवादी साहित्य है, और उसका ध्येय किसी को भी गाली देने का नहीं है न ही वह विरोध का साहित्य है। दलित साहित्य व्यवस्था विरोध का साहित्य है जिससे उनका शोषण हो रहा है।

हिंदी दलित साहित्य में पहली आत्मकथा अपने-अपने पिंजरे है जिसके लेखक मोहनदास नैमिशराय है। मेरठ शहर की सामाजिक, सांस्कृतिक स्थिति की बात की गई है। इस आत्मकथा में लेखन ने धार्मिक आधार की भी पड़ताल की है। अस्पृश्यता ने दलित समाज को मानवीय एवं प्राकृतिक अधिकारों से वंचित कर दिया था और आर्थिक आधार पर भी शोषण होता था। बेगार यानि बिना मूल्य का श्रम, सामाजिक रूप से निम्न जाति से ही कराया जाता था। व्यक्ति का अपने शरीर पर भी अधिकार नहीं होता था। इसमें उसके पसंद-नापसंद का कोई ख्याल नहीं रखा जाता है और इन्हें कभी भी काम के लिए बुला लिया जाता। "गांवों, कस्बों, नगरों का जातीय विभाजन किसने किया? कौन कर गया बड़े-बड़े पक्के मकान जातिवादी हिन्दुओं के नाम और टूटे-फूटे घर-झोपडियां हाशिए के लोगों के नाम। किसने बनती हैं शहर की बस्तियां, गलिय, मोहल्लों को जातियों के खानों में। कौन है यह विध्वंसक, अराजकतावादी और भेदभावकारी मानसिकता। इससे निपटना जरुरी है। परिवारों, गलियों और मुहल्लों में आपसी तकरार और लड़ाई होने के बावजूद इन लोगों में सामूहिक एकता है।"[30]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन दलित समाज का ऐतिहासिक दस्तावेज है क्योंकि उसमें दलित समाज की प्रथाओं के विषय में वर्णन मिलते हैं। वाल्मीकि अपनी जाति के विषय में खुल कर बात करते है। उन्होंने कहा कि अगर मैं अपनी जाति छुपाता हूँ तो मैं ब्राहमणवादी मानसिकता को कही न कही समर्थन दे रहा हूँ। उन्होंने पूरी ईमानदारी के साथ अपने समाज की

कमियों एवं शोषण के कारणों की चर्चा की है। "इस कृति का शिल्प अवश्य सुगठित है। कथा के प्रारम्भिक अंश में जोहड़ी, बगड़, हाड-गोड, जाकत, पूली, झोटा-बुग्गी, तगाघेर, कुरड़ी, ओक, खरावे, बाहियें जैसी अंचल विशेष की शब्दावली भाषा को जीवंत बनाती है तो आगे के कथा-प्रवाह में भाषा व बुनावट इतने सहज स्वाभाविक हैं कि वे कथ्य को पूरी संवेदनशीलता के साथ अभिव्यंजित करते हैं। 'जूठन' की प्रस्तुति की सहजता व कथा का सुव्यवस्थित संयोजन उसे प्रभावी व सहज ग्राह्य बनाता है।"[31]

'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' डॉ.. तुलसीराम की आत्मकथा है जो अपने साथ-साथ समाज की स्थिति को भी बताता है। अन्धविश्वाशों, अशिक्षा और गरीबी सामाजिक पृष्ठभूमि है। जिस कारण चेचक होने पर लेखक की एक आँख अंधविश्वास के कारण चली जाती है। तुलसीराम ने कहा कि मूर्खता हमारी जन्मजात विरासत है। शब्दों की बात की जाए तो भोजपुरी के कई शब्दों को नया जीवन मिल गया हो जैसे। "जिस प्रकार 'मुर्दहिया' में दलितों के जीवन की सदियों से अव्यक्त त्रासदिया, उत्पीड़न व भेदभावपूर्ण स्थितियां उजागर हुई हैं उही प्रकार इसकी रचना प्रक्रिया में भी कई ऐसे नये शब्द सामने आये हैं,जो सामान्य भाषिक प्रयोग में अनजाने से हैं। स्वयं 'मुर्दहिया' भी ऐसा ही अप्रचलित शब्द है। मणिकर्णिका वास्तव में मुर्दहिया का ही परिवर्तित सुसंस्कारित रूप है। मृत्यु और बुद्ध की करुणा डॉ.. तुलसीराम की चेतना में गहरे तक पैठी है, जो सामाजिक विचारों में अम्बेडकर और मार्क्स से प्रभावित है।"[32]

## 2.2 मराठी दलित आत्मकथा परम्परा:

दलित आत्मकथा लेखन का प्रारम्भ मराठी भाषा से ही माना जाता है। इस प्रकार हिंदी दलित आत्मकथा की विकास प्रक्रिया देखने से पूर्व मराठी की आत्मकथाओं पर नजर डालनी पड़ेगी। दलितों ने अपनी सम्पूर्ण शोषण एवं पीड़ा को आत्मकथा के माध्यम से व्यक्त किया है। कविता, कहानी एवं उपन्यास में दलितों के शोषण एवं अत्याचार साहित्य का अंग बन रहा था लेकिन

आत्मकथा में किसी भी काव्य सौन्दर्य को कोई स्थान नहीं था यथार्थ एवं आत्मवर्णन मुख्य रूप से सामने आया। दलित लेखन की शुरुआत में यह भी आरोप लगा कि 'साहित्य कैसे दलित हो सकता है।' लेकिन आधुनिक समय में जो अधिकारों की लड़ाई थी उसमें इस समाज की बात नहीं होती तो साहित्य को मानतावादी नहीं कह सकते है। अन्य कई आरोपों के बाद दलित साहित्य ने अपने आप को स्थापित कर लिया। दलित साहित्य मूल रूप में मानतावादी एवं यथार्थवादी है। 'अस्मिता दर्श' त्रैमासिक पत्रिका जिसमें प्र. ई. सोनेकाम्बले के आत्मकथांश को प्रकाशित किया था इसके बाद दया पवार की 'बलुत' (1975 ई.) मराठी की प्रथम आत्मकथा मानी जाता है।

हिन्दी साहित्य में दलित लेखन मुख्यधारा के रूप में सर्वप्रथम मराठी भाषा में ही आया। भारतीय साहित्य में दलित आत्मकथा लेखन की परम्परा पुरानी नहीं है। दलित आत्मकथा साहित्य की प्रेरणा श्रोत डॉ.. भीमराव अम्बेडकर रहे हैं यद्यपि उन्होंने अपनी कोई आत्मकथा तो नहीं लिखी किन्तु 'मी कसा झालो' (मैं कैसे बना) डॉ.. अम्बेडकर की मराठी आत्मकथा है जिसे उनके संस्मरण के आधार पर 'शंकर राव खरात' ने लिखी है इसलिए संभव है कि इससे प्रेरणा लेकर दलित साहित्यकारों ने आत्मकथा की  विधा को दलित साहित्य का प्रमुख अंग बनाया। यह संभावना कुछ आलोचकों ने व्यक्त की है। दलित साहित्य की अन्य विधाओं की तरह दलित आत्मकथा भी पहले मराठी में आयी। मराठी की प्रसिद्ध आत्मकथाओं में 'दया पवार' का 'बलुत' (अछूत), लक्ष्मण माने की उपरा (पराया), लक्ष्मण गायकवाड़ की उचल्या (उठाईगीर), सोन काम्बले की 'यादों के पंक्षी' शरण कुमार लिम्बाले की 'अक्करमाशी' (हरामजादा), किशोर शांताबाई की 'छोरा कोल्हाटी का' आदि प्रमुख है।

मराठी दलित साहित्य की पहली आत्मकथा 'अछूत' है जिसमें समाज में हाशिये पर धकेल दिये गये, महारों के जीवन को सच्चाई के साथ प्रस्तुत किया है। दलित जीवन की पीड़ा, पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चली आ रही है। आज तक उन्होंने इसे स्वीकार किया है, क्योंकि पढ़ना तो दूर की बात कुछ बोलने की भी अनुमति नहीं थी। जब शिक्षा प्राप्त कर लिया तो स्वाभाविक है उसके साथ जो घटित हो

रहा है या हो चुका है उसका उन्होंने आत्मकथा के माध्यम से सबके सामने प्रस्तुत किया है। "जाहिर है 'फ्लैश बैक' शैली कही गयी यह कथा दलित नायक (दया पवार) की ही कथा है, जो उनके बचपन से लेकर लगभग पूरे जीवन के यथार्थ को व्यंजित करती है। इसके आगे-पीछे उसके दलित समाज, उसके रहन-सहन, रीति-रिवाज, राग-द्वेष, पूर्वज, दादा-दादी, माता-पिता, गैर-दलित साथी-संघाती आदि सभी हैं। पुस्तक में कोई परिच्छेद नहीं है। बिना किसी रुकावट के पूरी कथा धारा-प्रवाह कह डाली गयी है।"[33] शोषण रूपी समाज में दलित रात- दिन काम करता है फिर भी भूखा रह जाता है और जो कुछ भी नहीं करता है वह विलासी जीवन व्यतीत करता है। इसमें जो युवक गाँव छोड़कर शहर जाकर नौकरी कर रहे है उनकी स्थिति के विषय में बताया गया है कि जो शहर के गंदे काम होते है वह उनके ही हिस्से आता है।

'छोरा कोल्हाटी का' मराठी आत्मकथा है जिसके लेखक डॉ.. किशोर शांताबाई काले है जो कोल्हाटी समाज से आते है। कोल्हाटी समाज में स्त्रियों को पुरुष बारी-बारी से खरीदते रहते है। इस प्रकार बच्चे के माता का तो पता होता है लेकिन पिता का पता नहीं चल पता है इसलिए बच्चे के साथ माता का नाम ही जुड़ता है। इस समाज का प्रमुख व्यवसाय नाचना गाना है। यह आत्मकथा इस समाज के कटु सत्य को सामने लाती है। "सबसे अहम बात है ऐसे लड़कों का लांछित जीवन। प्रथमत: तो समाज द्वारा उन्हें मान्यता ही नहीं प्राप्त है, इसलिए उनकी शिक्षा-दीक्षा और अन्य बुनियादी चीजों को मुहैया करनेवाला कोई नहीं। ऐसे में जीवन में कुछ कर पाना असम्भव है। अथक संघर्ष से यदि कोई कुछ कर पाये, तो कर ले, वरना समाज द्वारा ऐसी कोई सुविधा उन्हें प्राप्त नहीं है। लड़की हुई तो परिवार में खुशियाँ मनायी जाती हैं और लड़का हुआ, तो उसके परवरिश की चिंता के कारण माता दुखी हो जाती हैं। 'छोरा कोल्हाटी का' का लेखक किशोर काले खुद 'कोल्हाटी' समाज का एक ऐसा लड़का है और माँ शांताबाई उस समाज की ऐसी ही अभागिन माँ। किन्तु ये न अकेली माँ है और न अकेला बच्चा, दोनों मिलकर पूरे कोल्हाटी समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं।"[34] दलित आत्मकथाओं से भारतीय समाज के एक नए स्वरूप को समाने रखा। उन मुद्दों को साहित्य में लाया

जो अभी तक समाज में तो थी लेकिन उन पर कोई विशेष चर्चा नहीं हो रही थी, या कहे उन पर कोई ध्यान ही नहीं दिया जा रहा था। इस आत्मकथा में स्त्री की स्थिति की चर्चा की गई जिसमें कोई भी पुरुष बोली लगाकर कोई ले जाता इसके बाद कोई दूसरा आता ले जाता जब तक वह वृद्ध नहीं हो जाती तब तक यह प्रक्रिया चलती। जो बच्चे पैदा होते वह लावारिस की जिंदगी जीने को मजबूर रहते। 'अक्करमाशी' शरण कुमार लिम्बाले की मराठी आत्मकथा है। भारतीय समाज की बड़ी विचित्र स्थिति है जिसमें मानवता के सारे प्रतिमानों को ख़ारिज कर देती है। यह आत्मकथा सभ्य समाज के लिए आइने की तरह है। यह लिम्बाले के जीवन की घटना पर आधारित है जिसमें बिना किसी लक्षण ग्रन्थ के सबके सामने रखा दिया है। यह समाज के प्रति विद्रोह तो है साथ ही साथ दलित जीवन की भीषण त्रासदी और उसके मन की स्थिति का वर्णन है। "देश के चिंतकों ने सोचा था कि ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रसार होगा, उससे वैज्ञानिक चेतना पनपेगी वह अपने आप ही जाति व अस्पृश्यता के भेद को मिटा देगी। यही सोचकर उन्होंने जाति-प्रथा जैसी अमानवीय प्रथाओं के खिलाफ कोई विशेष अभियान नहीं चलाया गया केवल राजनीतिक आजादी पाने को ही पर्याप्त मान लिया। जिन शिक्षण-संस्थाओं ने इस सामाजिक विषमता को समाप्त करना था और बराबरी का अहसास पैदा करना था। वही पर इस गैर बराबरी और विषमता को फलने-फूलने का मौका मिला। वहाँ भी समाज का ढ़ांचा यूं ही मौजूद रहा।"[35] भारतीय समाज ने उच्च एवं निम्न जातियों के बीच जो अन्तर था उसे कम करने के कोई अभियान नहीं चलाया। शिक्षण संस्थानों में जाति व्यवस्था वैसी ही काम कर रही थी जैसे पहले काम कर रही थी जबकि उनका दायित्व ही सबसे ज्यादा था कि वह इस समस्या को ख़त्म करे। लेखन ने दलित समाज के आन्तरिक शोषण को भी सच्चाई के साथ रखा है कैसे दलित समाज भी शोषण करने के लिए अपने से छोटी जाति ढूढ़ लेती है। "गरमी के दिन थे। मैं तथा मातंग समाज का भीमू-हम दोनों इन दिनों रोज खेलते। उसकी माँ हम दोनों पर स्नेह जतलाती। खेलते हुए एक बार प्यास लगी। इस कारण हम दोनों घर आए। मैं पहले पानी पी गया। भीमू को पानी दे रहा था कि संतामाय चिल्ला उठीं, अरे मतंग को साथ लिए क्यों घूम रहा है? उसके साथ क्यों खेल रहा है? गाँव जल गया क्या कि

इसके साथ खेलने लगा? उसे लोटा मत दे। अपवित्र हो जाएगा।' और भीमू को था डांटते हुए कहने लगीं, चल, यहाँ से निकल।"[36] शरणकुमार लिम्बाले ने भारतीय समाज की कमियों के साथ-साथ दलित समाज में शोषण की प्रवृत्ति को आत्मकथा में उजागर किया है। भूख को शरणकुमार लिम्बाले ने दलित समस्या का मुख्य कारण माना है। एक बार किसी का आटा रास्ते में गिर गया था वह उसे लेकर घर जाते है तो उनकी बड़ी सराहना होती है। अगर घर में आटा होता तो लेखक को रास्ते से आटा नहीं उठाना पड़ता। लिम्बाले की बहन भूख के कारण केला का छिलका खा रही थी तो उन्होंने उसे माना किया, लेकिन कुछ देर बाद ही वह उसे धोकर खा रहे थे। शोषणकारी व्यवस्था ने दलित समाज के लिए ऐसे हालत पैदा कर दिए थे कि दिन-रात मजदूरी के बाद भी भर पेट भोजन नहीं मिलता था।

दलित साहित्य में आत्मकथा अपने उत्कर्ष में चल रहा है। जिसमे भाषा के आधार पर शिल्प के आधार पर तथा आत्मकथा के तत्वों में प्रौढ़ता आ रही है। आत्मकथा में आत्म के साथ-साथ सामाजिक राजनैतिक एवं आर्थिक आधार भी देखने को मिलते है।

## संदर्भ सूची:


1. डॉ. बेचैन, श्यौराज सिंह; संपादक-रमणिका गुप्ता, युद्धरत आम आदमी, नई दिल्ली; (अंक 41-42),1998; पृष्ठ14
2. भारती, कंवल; संपादक-रमणिका गुप्ता, युद्धरत आम आदमी, नई दिल्ली; (अंक 41-42),1998; पृष्ठ 41
3. लिम्बाले, शरण कुमार; दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र (अनुवाद-रमणिका गुप्ता); वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 42
4. कुमार, अजय; दलित पैंथर; गौतम बुक सेंटर, दिल्ली; संस्करण 2006; पृष्ठ 86
5. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा; नवारुण प्रकाशन, वसुंधरा, गाजियाबाद; संस्करण 2015; पृष्ठ 23
6. नैमिशराय, मोहनदास; दलित साहित्य; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 13
7. डॉ. देसाई, बापूराव; हिंदी आत्मकथा विधा का शास्त्र और इतिहास; गरिमा प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2011; पृष्ठ 24
8. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा; नवारुण प्रकाशन, वसुंधरा, गाजियाबाद; संस्करण 2015; पृष्ठ 173
9. डॉ. तिवारी, रामचंद्र; हिंदी का गद्य-साहित्य; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; संस्करण 2015; पृष्ठ 499
10. वही. पृष्ठ 528
11. डॉ. श्रीवास्तव, चम्पा; हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 14
12. डॉ. तिवारी, रामचंद्र; हिंदी का गद्य-साहित्य; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; संस्करण 2015 पृष्ठ 527-528.
13. वही, पृष्ठ 527
14. डॉ. श्रीवास्तव, चम्पा; हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 37
15. सं. वर्मा, धीरेंद्र; हिंदी साहित्य कोश; ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी; संस्करण 2009; पृष्ठ 77
16. सं. प्रसाद, कालिका; बृहत हिंदी कोश; ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी; संस्करण 2009; पृष्ठ 123
17. राय, बाबू गुलाब; काव्य के रूप; आत्माराम एंड संस, दिल्ली; संस्करण 1958; पृष्ठ 232
18. गुप्ता, शांति स्वरूप; पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत; अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 1965; पृष्ठ 103
19. डॉ. नगेंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; मयूर पेपर बैक्स, नोएडा; संस्करण 1973; पृष्ठ 595
20. डॉ. देसाई, बापूराव; हिंदी आत्मकथा विधा का शास्त्र और इतिहास; गरिमा प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2011; पृष्ठ 41-42
21. डॉ. मिश्रा, सरयू प्रसाद; हिंदी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ; अमन प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2011;

आमुख
22. भण्डारी, मन्नू ; एक कहानी यह भी; राधाकृष्ण प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 2008; पृष्ठ 9
23. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा; नवारुण प्रकाशन, वसुंधरा, गाजियाबाद; संस्करण 2015; पृष्ठ 154-155
24. डॉ. देसाई, बापूराव; हिंदी आत्मकथा विधा का शास्त्र और इतिहास; गरिमा प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2011; पृष्ठ 58
25. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा; नवारुण प्रकाशन, वसुंधरा, गाजियाबाद; संस्करण 2015; पृष्ठ 157
26. जैन, पुनीता; हिंदी दलित आत्मकथाएं एक मूल्यांकन; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 38
27. वही, पृष्ठ 31
28. ठाकुर, हरिनारायण; दलित साहित्य का समाजशास्त्र; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 115-116
29. वही, पृष्ठ 116-117
30. काजल, अजमेर सिंह; दलित आत्मकथाएं वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण; अनामिका, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 55-56
31. जैन, पुनीता; हिंदी दलित आत्मकथाएं एक मूल्यांकन; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 111
32. वही, पृष्ठ 274
33. ठाकुर, हरिनारायण; दलित साहित्य का समाजशास्त्र; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 468
34. वही, पृष्ठ 488
35. चन्द्र, सुभाष; दलित आत्मकथाएं अनुभव से चिंतन; साहित्य उपक्रम, दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 134-135
36. वही, पृष्ठ 139

## तृतीय अध्याय

# हिंदी की दलित आत्मकथाएँ और समाजशास्त्रीय अध्ययन

साहित्य के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखते है कि "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।"[1] साहित्य का सम्बन्ध हमेशा से मनुष्य के जीवन चरित्र से रहा है। मनुष्य समाज में रहता है और समाज में राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भाषा के आधार पर परिवर्तन होता है तो साहित्य पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। जैसे-जैसे मनुष्य के विचार एवं व्यवहार में अंतर आता है तो उसका प्रभाव समाज में निवास कर रही जनता पर भी पड़ता है। अगर जनता इससे प्रभावित होती है तो साहित्य भी प्रभावित होगा। साहित्य मनुष्य की जीवन-मरण, उल्लास, वेदना, सुख-दुख, आशा, आकांक्षा, की अभिव्यक्ति का साधन न बनकर वह समाज की पीड़ा, वेदना, ग्लानि, उतार-चढ़ाव को भी वाणी दें रहा है। मैनेजर पाण्डेय ने अपनी किताब 'साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि' में साहित्य के विषय में बताते है कि "आज के ज़माने में साहित्य की दुनिया केवल सौंदर्य और प्रेम की एकान्त साधन के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आर्थिक ढांचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक संरचनाओं और सास्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है।"[2] इस समय के साहित्य में समाज के परिवर्तन के कई स्त्रोत सामने आते है। इनको नकारा भी नहीं जा सकता है। बिना उनके जाने उसके लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकते है। बच्चन सिंह 'साहित्य के समाजशास्त्र में लिखते है कि "लेखक साहित्य का श्रष्टा है। साहित्य में उसके व्यक्तित्व का प्रतिफलन होता है। अत: साहित्य को समझने के लिए लेखक के व्यक्तित्व को रूपायित करने वाले तत्वों का विश्लेषण जरूरी है।"[3] जहाँ साहित्य को जनता की चित्तवृत्ति कहा जा रहा है वही बच्चन सिंह साहित्य लिखने वाले लेखक के जीवन को साहित्य में प्रतिफलन को मुख्य मानते है और आगे कहते है कि "लेखक की वर्गीय स्थिति आर्थिक-सामाजिक समस्यायों के प्रति उसके रूप विचारधारा आदि के

संबंध में उनके फलितार्थों का विवेचन काफी मुश्किल है। वर्गीय स्थिति से किसी लेखक की कृति को अनिवार्यता संबंध करना पर्याप्त भ्रांतिपूर्ण है।"[4] वर्गीय स्थिति को एकदम से ख़ारिज नहीं किया जा सकता है। जैसे कबीर की वर्गीय स्थिति उनके रचना को समझने में मदद साबित होती है। तुलसीदास के अंतर्विरोधों को भी इसी आधार पर समझा जाता है।

## 3.1 साहित्य और समाज का अंतर्संबंध:

'साहित्य' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसके लिए करें या किसे साहित्य कहें? इसमें भी भ्रम की स्थिति बनी हुई है। डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा लिखते है कि "हम साहित्य का अध्ययन एक शास्त्र के रूप में प्रारम्भ करें और इसके विषय, क्षेत्र, परिधि, समस्या, गवेषण-विधि, उद्देश्य, आदर्श, संकल्पनाओं का स्पष्टीकरण मूल सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि प्रारम्भ करें।"[5] साहित्य के विषय में डॉ. शर्मा ने उसके शुरुआत, विस्तार एवं कारणों के विषय में बताया है। साहित्य के लेखन में स्मृति, कल्पना, प्रवृत्ति और व्यक्तित्व आदि माध्यमों से सृजन की प्रक्रिया शुरू होती है, लेकिन संस्कृति, सभ्यता, नैतिक आदर्श, धार्मिकता, राजनितिक व्यवस्था और आर्थिक स्थिति आदि सभी इसे प्रभावित करती है। "साहित्य की मूल भूमि जन-जीवन है। इसके विस्तार एवं विकास का मार्ग भी जन-जीवन के साथ संबंध है। इस संबंध को अवगत करने के लिए हमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण भी समझना चाहिए। साहित्य में एकदम नूतन का सृजन नहीं होता। युगों का प्रयास इसके पीछे रहता है। इस प्रयास का अध्ययन लाभदायक होगा, विशेषत इसलिए कि इसके द्वारा हम विकास का भावी-मार्ग प्रशस्त कर सकेगें। वैसे तो सभी जीवित या अजीवित पदार्थों का इतिहास होता है, परन्तु साहित्य का सीधा संबंध आत्मा से है और वह जड़ प्रकृति और जीवन की भी अपेक्षा अधिक संवेदनशील है।"[6] साहित्य का संबंध समाज के साथ वैसा ही है जैसा आत्मा का संबंध शरीर से होता है। साहित्य का विषय-वस्तु हमेशा मानव मूल्य से होता है। साहित्य की रचना जनता के पठन-पाठन के लिए होती है जिसे पाठक पढ़कर प्रत्येक बिंदु को ठीक से समझ सके, क्योंकि साहित्य में जीवन के भौतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक, बौद्धिक और भावात्मक वैज्ञानिक और कलात्मक आदि अंग होते है। "प्राचीन

साहित्य के इतिहास से यह बात स्पष्ट होती है कि अतीत युग में साहित्यकारों का कोई वर्ग नहीं था। केवल महामुनि, ऋषि और वे लोग जिनका जीवन स्वयं सक्रीय उर्वर और गंभीर था, साहित्य सृजन स्वतंत्र सुखाय और लोक- कल्याण के लिए करते थे। उस साहित्य में जो गरिमा और गाम्भीर्य, सत्य और आदर्श की गंध है वह साहित्यकारों के जीवन की उपज है। यदि साहित्य अनंत अंगों को पूर्ण और पुष्ठ बनाना है तो आवश्यक होगा कि वह समाज ही अपने जीवन को विश्व की भांति विशाल और विकासोन्मुख बानवे। सत साहित्य के निर्माण के लिए कोई छोटा रास्ता नहीं है।"[7] साहित्य का मुख्य उद्देश्य समाज कल्याण की भावना अपने अन्दर समाहित किये हुए है। यह मनुष्य की संवेदना का विषय है। मानवीय संवेदना द्वारा सही या गलत के साथ समग्र मानव जाति कल्याण के विषय में सोचती है इसलिए राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन के लिए किसी एक व्यक्ति पर आरोपित कर देना सही नहीं होगा।

हिंदी में साहित्य को समझाने के लिए प्रेमचंद का प्रसिद्ध लेख 'साहित्य का उद्देश्य' मिलता है, मूलतः यह एक व्याख्यान है जो उन्होंने 1936ई. में लखनऊ में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' के स्थापना सम्मेलन में अध्यक्ष-पद से दिया था। इस लेख में यथार्थवादी व प्रगतिशील साहित्य-रचना की वकालत की गई है। "साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाईयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों। तिलिस्माती कहानियों, भूत-प्रेत की कथाओं और प्रेम-वियोग के आख्यानों से किसी ज़माने में हम भले ही प्रभावित हुए हों, पर अब उनमें हमारे लिए बहुत कम दिलचस्पी है। इसमें सन्देह नहीं कि मानव-प्रकृति का मर्मज्ञ साहित्यकार राजकुमारों की प्रेम-गाथाओं और तिलिस्माती कहानियों में भी जीवन की सचाईयाँ वर्णन कर सकता है, और सौन्दर्य की दृष्टि कर सकता है; परन्तु इसमे भी इस सत्य की पुष्टि ही होती है कि साहित्य में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि वह जीवन की सचाइयों का दर्पण हो।"[8] इससे पहले साहित्यकार कल्पना

की दृष्टि के माध्यम से मनोरंजन और अदभुत रस-प्रेम की तृप्ति ही साहित्य का मुख्य प्रवृत्ति मानते थे। साहित्य का वर्तमान जीवन से कोई विशेष लगाव नहीं था, यह कल्पनातीत था। प्रेमचन्द ने अपने वक्तव्य में पहले रसास्वादन एवं मनोरंजनप्रद रचना की बात की और फिर साहित्य के मूल स्वरूप यथार्थवाद एवं लोकमंगल की भावना के विषय में बताया। "काव्य और साहित्य का उद्देश्य हमारी अनुभूतियों की तीव्रता को बढ़ाना है; पर मनुष्य का जीवन केवल स्त्री-पुरुष-प्रेम का जीवन नहीं है। क्या वह साहित्य, जिसका विषय श्रृंगारिक मनोभावों और उनसे उत्पन्न होने वाली विरह-व्यथा, निराशा आदि तक ही सीमित हो- जिसमें दुनिया की कठिनाइयों से दूर भागना ही जीवन की सार्थकता समझी गई हो, हमारी विचार और भाव सम्बन्धी आवश्यकतों को पूरा कर सकता है? श्रृंगारिक मनोभाव मानव-जीवन का एक मात्र है, और जिस साहित्य का अधिकांश इसी से सम्बन्ध रखता हो, वह उस जाति और युग के लिए गर्व करने की वस्तु नहीं हो सकता और न उसकी सुरुचि का ही प्रमाण हो सकता है।"[9] प्रेमचन्द कह रहे है कि श्रृंगार रस साहित्य का विषय हो सकता है लेकिन वह मानव-जीवन का एक भाग है उसको समग्र साहित्य नहीं कह सकते। साहित्य के लिए मुख्य तत्व जीवन की समस्यायों पर भी विचार करना है और उनका निष्कर्ष निकलना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी एक लेख 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' में लिखते है कि "हमारे देश में नाना भाँति के कुसंस्कार और गन्दगी वर्तमान हैं, जबकि हमारे समाज का आधा अंग परदे में ढका हुआ है, जबकि हमारी नब्बे फीसदी जनता अज्ञान के मलवे के नीचे दबी हुई है, तब हमें मानना चाहिए कि अभी दिल्ली बहुत दूर है। हम साहित्य के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं और जो कुछ दे रहे हैं, उसमें कहीं बड़ी भारी कमी रह गई है। हमारा भीतर और बाहर अब भी साफ-स्वस्थ नहीं है। साहित्य की साधना तब तक बन्ध्या ही रहेगी जब तक हम पाठकों में एक ऐसी अदमनीय आकांक्षा जाग्रत न कर दें, जो सारे मानव-समाज को भी भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान-योग्य देखने के लिए सदा व्याकुल रखे।"[10] हजारी प्रसाद द्विवेदी लेख के माध्यम से कहते है साहित्य में आधी आबादी अभी भी मुख्यधारा के साथ नहीं आ पाया है और अधिकांश जनता अभी भी शिक्षा से दूर ही है। तो इस प्रकार जो भी साहित्य में रचा जा

रहा है वह पूर्ण जनमानस की आवाज कैसे हो सकता है? साहित्य किसी एक वर्ग विशेष द्वारा भी नहीं रचा जाना चाहिए जिसमें अन्य लोगों की समस्यायों को नहीं समझ पायेंगे। इस प्रकार साहित्य एकांगी हो जायेगा और एकांगी स्वरूप समाज की दिशा देने के लिए भ्रामक सिद्ध होगा।

कलाकार कभी भी एकांगी नहीं हो सकता है उसको एक धारा में बांधा नहीं जा सकता है। जैसे साहित्यकार निर्धनों, किसानों-मजदूरों, दलितों और स्त्रियों का वर्णन करने के लिए कहा जाता है तो भी यह एकांगी दृष्टि होगी। अज्ञेय एक लेख 'संक्रांति-काल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ' में लिखते है कि "साहित्य की प्रेरणा करने वाली मूल शक्ति साहित्यकार की एक आन्तरिक विवशता है। साहित्यकार यद्यपि किसी एक दिशा में जाता है अवश्य, तथापि वह दिशा बाह्य आदेशों द्वारा निश्चित नहीं होती, कवि की व्यक्तिगत परिस्थिति-उसकी आन्तरिक और बाह्य परिस्थिति से उत्पन्न व्यक्तिगत विवशता उसे निश्चित करती है। अतएव किसी एक दिये हुए ढाँचे पर साहित्य का निर्माण करने या करने की आशा भी भ्रामक है।"[11] साहित्यकार को समाज की परिस्थितियाँ प्रभावित करती है जिससे उसको कोई दिशा मिलती है। साहित्य को समाज बहुत हद तक प्रभावित एवं परिवर्तित भी करता है फिर वह चाहे आतंरिक अनुभूति हो या बाह्य। हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते है कि "साहित्य के उत्कर्ष या अपकर्ष के निर्णय की एकमात्र कसौटी यही हो सकती है कि वह मनुष्य का हित साधन करता है या नहीं। जिस बात के कहने से मनुष्य पशु-सामान्य धरातल के ऊपर नहीं उठता, वह त्याज्य है। मैं उसी को सस्ती चीज कहता हूँ। सस्ती इसलिए कि उसके लिए किसी प्रकार के संयम या तप की जरुरत नहीं होगी। धूल में लोटना बहुत आसान है, परन्तु धूल में लोटने से संसार का कोई बड़ा उपकार नहीं होता और न किसी प्रकार के मानसिक संयम का अभ्यास ही आवश्यक है।"[12] साहित्य की आलोचना का केंद्र मानव समाज के कल्याण का विषय होना चाहिए, यह कहा जा सकता है कि साहित्य या कोई रचना से जनक्रांति, सामाजिक बदलाव नहीं हो सकता है लेकिन इससे एक चेतना का विकास जरुर होता है। इस प्रकार साहित्य का कार्य परिवर्तन की चेतना बनाने का कार्य है जो समाज को एक सकारात्मक दिशा दे सके। साहित्य का सम्बन्ध अन्य विषय से देखते है तो नीतिशास्त्र

साहित्य के करीब जान पड़ता है। "नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही -केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिए मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है। हम जीवन में जो कुछ देखते हैं, या जो कुछ हम पर गुजरती है, वही अनुभव और चोटें कल्पना में पहुँचकर साहित्य-सृजन की प्रेरणा करती हैं। कवि या साहित्यकार में अनुभूति की जितनी तीव्रता होती है, उसकी रचना उतनी ही आकर्षक और ऊँचे दरजे की होती है। जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममें शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौन्दर्य-प्रेम न जाग्रत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाईयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह आज हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहाने का अधिकारी नहीं है।"[13] साहित्य समस्या से अवगत तो करता ही है साथ-साथ उनके निष्कर्ष की बात भी करता है। समाज के अन्दर इच्छा शक्ति का संचार भी करता है जिससे मनुष्य मानसिक रूप से संबल महसूस करता है। कोई भी रचना का उद्देश्य अगर मनोरंजन है तो वह साहित्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है बल्कि मनोरंजन के साथ-साथ उसमें मानव हित का सन्दर्भ समाहित है तो वह बेहतर होगा। मनोरंजक साहित्य के द्वारा पाठक तो पैदा कर सकते है लेकिन उस रचना से समाज को दिशा नहीं दिया जा सकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल अपने निबंध 'कविता क्या है' में इस विषय पर लिखते है कि "प्राय: सुनने में आता है कि कविता का उद्देश्य मनोरंजन है। पर जैसा कि हम पहले कह आए हैं, कविता का अंतिम लक्ष्य जगत के मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उनके साथ मनुष्य-हृदय का सामंजस्य-स्थापन है। इतने गंभीर उद्देश्य के स्थान पर केवल मनोरंजन का हल्का उद्देश्य सामने रखकर जो कविता का पठन-पाठन या विचार करते हैं, वे रास्ते ही में जाने वाले पथिक के समान हैं।"[14] मनोरंजन मनोचित्त को भटकने से रोक सकता है। वह साधन हो सकता है साध्य हमारा हमेशा से मानव हित, समाज के स्वरूप की बात करता है। साहित्य के विषय में प्रेमचन्द ने सुसंगत बात की है। "जब तक साहित्य का काम केवल मन-बहलाव का सामान जुटाना, केवल लोरियाँ गा-गाकर सुलाना, केवल आँसू बहाकर जी हल्का करना था, तब तक इसके लिए कर्म

की आवश्यकता न थी। वह एक दीवाना था, जिसका गम दूसरे खाते थे; मगर हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सचाइयों का प्रकाश हो-जो हम में गति और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं; क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"[15]

समाजशास्त्र को समझने के लिए सर्वप्रथम उसके शब्दों को समझना जरुरी है। सामान्यतौर पर व्यक्तियों के समूह जहाँ धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक आधार पर अन्य समूह से अलग होता है, उसे समाज कहते है। "समाजशास्त्र (Sociology) शब्द की उत्पत्ति लातीनी (Latin) शब्द Socius (अर्थात सहचर) एवं ग्रीक (Greek) शब्द 'logy' (अर्थात का अध्ययन) से हुई है। चूँकि यह शब्द पहले फ्रांसीसी भाषा में आया इसलिए इसका प्रथम बर्तनी 'Sociologic' था।"[16] फ्रांसीसी दार्शनिक आगस्ट काम्टे ने सर्वप्रथम समाजशास्त्र शब्द का प्रयोग किया था। यह विषय फ्रांस में औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न हुआ था और बाद में यह जर्मनी, इंग्लैंड और यूरोप के अन्य देशों में इसका विस्तार हो गया बाद के समय में यह सारी दुनिया में लोकप्रिय विषय के रूप में स्थापित हो गया है।

'समाज' शब्द आम बोल-चाल की भाषा में प्रयोग किया जाता है। जैसे दलित समाज, पिछड़ा समाज, अल्पसंख्यक समाज और धार्मिक आधार पर भी हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज, ईसाई समाज, ब्रह्म समाज इत्यादि प्रजाति के आधार पर भी समाज में भेद है -द्रविड़ समाज, आर्य समाज, चीनी समाज आदि। समाज के उक्त सभी प्रयोग आम जनमानस में करते है, लेकिन समाजशास्त्र के अनुसार समाज की अवधारणा बिल्कुल भिन्न है-"इसका तात्पर्य यह है कि समाज व्यक्तियों का समूह नहीं बल्कि व्यक्तियों के बीच पाया जाने वाला पारस्परिक सम्बन्ध होता है। समाज कोई मूर्त संगठन नहीं है, अर्थात इसको देखा या स्पर्श नहीं किया जा सकता है। वह केवल सामाजिक संबंधों का एक जाल है। (Society is the web of social relationships) इस कथन का तात्पर्य यह है कि समाज

का निर्माण व्यक्तियों से नहीं होता, बल्कि व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों से होता है। जब लोग एक व्यवस्था में बंध जाते हैं तो उस व्यवस्था को हम 'समाज' कहते है।"[17] सामाजिक सम्बन्धों से तात्पर्य यह है कि उसका उद्देश्य किसी विशेष कार्य के लिए किया गया हो। सामाजिक सम्बन्धों में भी समय के साथ परिवर्तन होता रहता है। इनके कारणों में धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं तकनीकि है। समाज की विशेषताओं में भौतिक सम्बन्ध भी मुख्य रूप प्रस्तुत करता है। समानता से तात्पर्य विचारों की समानता और उद्देश्य एवं मूल्य की समानता से ही सामाजिक व्यवस्था कायम होती है। समानता के अभाव में लोग कभी एक साथ नहीं रह सकते है। समानता के साथ-साथ भिन्नता भी उतना ही आवश्यक पक्ष है। कार्यक्षमता की भिन्नता, इच्छा एवं आकांक्षा की भिन्नता जिससे प्रतियोगिता की भावना पनपती है, जिससे समाज को एक नयी दिशा मिलती है। समाज में शोषण एवं अन्याय के विरुद्ध संघर्ष हमेशा से होता रहा है शोषण करने के आधार बदलते रहते है। संघर्ष के बाद ही समाज में सामाजिक न्याय एवं समता मूलक समाज की स्थापना होती है। "कार्ल मार्क्स ने कहा है कि वर्ग संघर्ष ही समाज के परिवर्तन का मूल कारण है। समाज की रचना में आमूल परिवर्तन संघर्ष प्रक्रिया की देन हैं। आर्थिक शोषण एवं सामाजिक अन्याय के विरुद्ध मुकाबला सामाजिक संघर्ष के द्वारा ही सम्भव है। यह संघर्ष हिंसक तथा अहिंसक दोनों हो सकता है।"[18] समाज व्यक्तियों के समूह को नहीं कह सकते है बल्कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच और व्यक्ति समूह के बीच जो अन्त:क्रिया होती है। उसके फलस्वरूप जो सामाजिक सम्बन्ध बनते है उसके ताने-बाने से जो सम्बन्ध बनता है उसे समाज कहते है।

किसी भी व्यवस्था को चलाने के लिए कुछ नियम कायदें होते है जो परिवेश एवं वातावरण के अनुकूल होते है। वैसे ही समाज को चलाने या किसी भी समाज के गुण और अवगुण को देखने के लिए हमारे कुछ प्रतिमान माने गये है जिसके द्वारा सामाजिक प्रक्रिया को हम देखते है। जिसे समाजशास्त्र कहते है। "रिचर्ड टी. शैफर (Richard T. Schafer,1985) ने इसे सामाजिक व्यवहार, मानव समूह, लोगों की अभिवृत्ति व व्यवहार पर सामाजिक सम्बन्धों का प्रभाव तथा समाज किस

प्रकार स्थापित होते हैं व बदलते हैं, इन विषयों के व्यवस्थित अध्ययन को समाजशास्त्र कहा है।"[19] समाजशास्त्र मानव वर्ग के सम्पूर्ण विभेद का वर्णन करता है। यह व्यक्ति के मस्तिष्क के अन्दर की अभिवृत्ति और पारस्परिक अन्त:क्रियाओं की जानकारी प्राप्त करता है। "सामाजिक अन्त:क्रिया का अर्थ है लोग एक-दूसरे से किस प्रकार व्यवहार करते हैं तथा एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं। यही सामाजिक अन्त:क्रिया लोगों के सामाजिक व्यवहार (परिवार में पत्नी का पति के प्रति व्यवहार, मनमुटाव के कारण इत्यादि) को निश्चित करती है तथा सामाजिक संस्थाओं, परिवार, जाति, विद्यालय इत्यादि का निर्माण करती है।"[19] समाज का अध्ययन करने के लिए व्यक्ति और मानव समूह का एक दूसरे के प्रति व्यवहार आचार विचार का अध्ययन समाजशास्त्र के आधार पर करते है और मानव या व्यक्ति की मन: स्थिति समझने का प्रयास करते है।

साहित्य और समाजशास्त्र के मूल में मनुष्य और उसका कल्याण ही निहीत है। साहित्य मनुष्य के आन्तरिक रूप से परिवर्तित करके मनुष्य को आदर्श रूप में स्थापित करना चाहता है। समाजशास्त्र मनुष्य या समूह के द्वारा किये गये कार्यों का विश्लेषण करके उनके स्वरूप एवं स्थिति में परिवर्तन लाना चाहता है। दोनों का ध्येय मानव कल्याण है लेकिन समाजशास्त्र अपने प्रतिमानों के आधार पर विश्लेषण करके गुणों एवं अवगुणों को दर्शाता है जबकि साहित्य तो एक मानव की आत्मा के द्वारा उसके अन्त:मन को परिवर्तित करने का प्रयास करता है। साहित्य एवं समाजशास्त्र एक दूसरे के लिए अभिन्न विषय है। साहित्य का सम्बन्ध हमेशा से समाज से रहा है, कभी-कभी साहित्य प्रेम एवं सौन्दर्य एवं रहस्य में पड़कर जनमानस की भावना का ध्यान नहीं रखता है। इसी आधार पर आधुनिक साहित्य के विषय में मैनेजर पाण्डेय लिखते है कि "साहित्य की व्याख्या को रहस्यमय केवल वे ही नहीं बनाते जो अनंत, असीम काल, नियति आदि के सहारे साहित्य का महत्त्व समझाते हैं: जो लोग संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र की प्रत्येक घटना, क्रिया और वस्तु के किसी अदृश्य साजिश का परिणाम घोषित करते रहते हैं, वे भी आलोचना में रहस्यवाद फैलाते है।"[20] अब साहित्य के आलोचकों को साहित्य की व्याख्या ही नहीं पाठकों के आधार पर उसका सामाजिक एवं सांस्कृतिक

पक्ष भी ध्यान में रखना होगा। मैनेजर पाण्डेय इस विषय पर अपनी बात रखते है कि "साहित्यिक समाजशास्त्र का लक्ष्य केवल व्याख्या नहीं है। यह काम दूसरे आलोचना पद्धतियों में भी होता है। उसका लक्ष्य साहित्यिक कृति की सामाजिक अस्मिता की व्याख्या है। साहित्यिक कृति की सामाजिक अस्मिता रचना के सामाजिक सन्दर्भों और सामजिक अस्तित्व से निर्मित होती है इसलिए साहित्य के समाजशास्त्र में उस पूरी प्रक्रिया को समझने की कोशिश होती है जिसमें कोई रचना साहित्यिक कृति बनती है।"[21]

किसी भी रचना के विषय में बात करने से पूर्व उस समय की स्थिति एवं परिस्थिति को जानने से है, तभी उस साहित्य की पूर्ण व्याख्या हो सकती है क्योंकि रचनाकार की मन:स्थिति के साथ-साथ उस समय की सामाजिक संदर्भो को भी देखना जरुरी हो जाता है। नहीं तो रचना एवं रचनाकार के साथ न्याय नहीं कर सकते है। साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य के साथ समाज के संबंधों को सभी स्वरूपों एवं पक्षों से देखने पर जोर देता है। रचना या साहित्य प्रक्रिया के मुख्य पक्षसमाज या व्यक्ति होते है आलोचक रचना के विषय में या लेखक के मन:स्थिति ही उनकी आलोचना का विषय होता है लेकिन साहित्य के समाजशास्त्र में तीनों पक्षों पाठक, लेखक और रचना को देखना पड़ता है।

## 3.2 साहित्य का समाजशास्त्र और दलित आत्मकथाएँ:

साहित्य के विषय में बीसवीं सदी में सबसे अधिक चिंतन हुआ है। रचना में भाषा की आलोचना मुख्य हो गई थी। साहित्यिक विवेचन केवल रचना की भाषा चिंतन तक ही सीमित हो गया। जिसमें रुपवाद प्रमुख स्थान रखता है, लेकिन बाद में कृति में भाषा के साथ-साथ अन्य तत्वों का होना भी आवश्यक माना जाने लगा है। "अब सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया से साहित्यिक प्रक्रिया का सम्बन्ध बदल गया है। आज के समाज से साहित्य के बदले हुए सम्बन्ध को यथार्थवादी ढंग से समझने की जरुरत है न कि उसकी काल्पनिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिय तथाकथित अन्तर्वर्ती आलोचना से चिपके रहने की। अब इस कछुआ धर्म से काम नहीं चलेगा। साहित्य का समाजशास्त्र

आधुनिक समाज में साहित्य की वास्तविक स्थिति और भूमिका को यथार्थवादी ढंग से समझने का प्रयत्न करता है।"[22] साहित्य में कल्पना का तत्त्व प्रमुख रूप से रहा है साहित्यकार रचना में कल्पना के लिए स्वतन्त्र रहा है लेकिन आधुनिक समय में साहित्य को यथार्थवाद के प्रतिमान से देखा जाता है। इसलिए समाज के प्रत्येक स्वरूप का साहित्य में वर्णन मुख्य हो जाता है। साहित्य में सामाजिकता की चिंता पहले भी रही है, लेकिन अब व्यवस्थित दृष्टि और पद्धति का विकास हुआ है। "आजकल साहित्य के समाजशास्त्र के विकास की दो धाराएं हैं। एक धारा में साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति की खोज होती है। उसे हम मीमांसावादी धारा कह सकते हैं। दूसरी में साहित्य की सामाजिक स्थिति का विवेचन होता है। वह अनुभववादी धारा है। मीमांसावादी धारा के अंतर्गत मार्क्सवादी, आलोचना समाजशास्त्री और संरचनावादी दृष्टियाँ सक्रिय हैं तो अनुभववादी पद्धति में पुरानी विधेयवादी दृष्टि के साथ-साथ संरचनात्मक- कार्यात्मक दृष्टियां सक्रिय दिखाई देती हैं।"[23] साहित्य में पहले रचना को आत्मनिर्भर माना जाता था जिसमें आन्तरिक बनावट और सौन्दर्यबोध पर विशेष जोर दिया जाता था। रचना में अभिव्यक्त समाज उसकी व्याख्या का विषय नहीं होता है। "साहित्य समय विशेष की ऐतिहासिक-सामाजिक स्थितियों, समस्याओं, विचारों, अनुभवों को आत्मसात करके व्यक्त करता है, उस ढंग से साहित्य और समाज के पारस्परिक रिश्ते पर आरम्भ में बल नहीं दिया गया। सामाजिक यथार्थ और सामाजिक चेतना मिलकर कैसे साहित्य के रूप-निर्माण में योग देते हैं, आधुनिक काल में इस पर विचार-विश्लेषण करने की आवश्यकता साहित्य के समीक्षक बराबर महसूस करते रहे हैं। सामाजिक परिवर्तनों से साहित्यिक परिवर्तन कैसे प्रेरित होते हैं, यह एक महत्त्वपूर्ण सवाल है। सामाजिक परिवर्तन तो साहित्यिक परिवर्तन की पहचान कराते ही हैं, साहित्य में भी यह शक्ति होती है कि वह सामाजिक चेतना को प्रेरित और प्रभावित करे।"[24] सामाजिक चेतना से तात्पर्य पाठक की रूचि का निर्माण करना और आवश्यकता पड़ने पर उसमें परिवर्तन या अनुकूलन करना। समाजशास्त्रीय दृष्टि साहित्य का अध्ययन करने का अर्थ साहित्य और पाठक के बीच संबंधों का विश्लेषण किया जाना है।

साहित्य और समाज के बीच सम्बन्ध को पहले व्यवस्थित विवेचन करने का श्रेय फ्रांसीसी दार्शनिक और आलोचक ईपालीत तेन (1828-93) को दिया जाता है। तेन ने तीन अवधारणाओं के उपयोग का प्रस्ताव दिया- प्रजाति, क्षण और परिवेश। तेन का दावा था कि "यदि इन शक्तियों को मापा जा सके और उनका अर्थ निकाला जा सके, तो इनसे भावी सभ्यता के लक्षणों के बारे में नतीजे निकले जा सकते हैं। प्रजाति, क्षण और परिवेश के बीच अंत:क्रिया एक व्यावहारिक अथवा चिन्तनशील 'मानसिक संरचना' उत्पन्न करती है। यह 'मानसिक संरचना' उन 'बीजरूप विचारों' के विकास की दिशा में ले जाती है जो निश्चित शताब्दियों और युगों की विशेषता होते हैं और महान कला एवं साहित्य में अभिव्यक्ति पाते हैं। इस सूत्र का महत्त्व भौतिक कारणों का बयान करने में उतना नहीं है, जो उन्नीसवीं शताब्दी में आम बात थी, बल्कि इस कारण है कि यह एक साहित्यिक कृति और उसके समाज के बीच निश्चित संबंधों की ओर संकेत करता है।"[25] साहित्यिक कृति की व्याख्या के लिए लेखक की जीवनी और परिवेश को आवश्यक माना गया है। मनोवैज्ञानिक आलोचक तो पूर्णत: लेखक की जीवनी पर आधारित विश्लेषण होता है। साहित्य का जोर विश्वदृष्टि है जो वैयक्तिक नहीं सामाजिक होता है। "साहित्य, कला, दर्शन और सारत: भाषा है। इनके माध्यम से मनुष्य एक दूसरे के भावों और विचारों का विनिमय करता है। व्यक्ति समसामयिक भी हो सकते हैं, भावी पाठक भी हो सकते हैं, ईश्वर भी हो सकते है। वह विचार विनिमय के अन्य प्रकारों से साहित्य और कला का स्वरूप भिन्न होता है। इनमें सब कुछ कहा नहीं जाता-कुछ अनकहा रह जाता है। यह उसकी संरचना का अंग है। इसके आगे भाषा के बारे में कुछ नहीं कहा गया है। किन्तु यह बताया गया है कि यद्यपि कृति व्यक्ति विशेष द्वारा रची जाती है पर उस रचना के मूल में विश्वदृष्टि होती है- यह अनुभव की गई विश्वदृष्टि है। अनुभूत, विश्वदृष्टि और बाहर के विश्व-प्रपंच में तारतम्य ढूढना आलोचना का काम है। जहाँ रचना की आन्तरिक और प्रपंच में संगति या संवाद नहीं है, वहाँ रचना घटिया दर्जे की होगी।"[26] विश्वदृष्टि की धारण गोल्डमान के साहित्य के समाजशास्त्र की बुनियाद है। विश्वदृष्टि मानव समाज के जीवन में पहले ही निहित होता है, लेकिन वह दर्शन, कला और साहित्य में व्यक्त होती है। इसलिए

कृति के अध्ययन से ही खोज किया जाता है न कि वर्ग के अध्ययन से। "प्रत्येक कृति किसी लेखक की रचना होती है और वह लेखक के विचारों तथा अनुभूतियों को व्यक्त करती है। लेकिन वे विचार और भाव समाज तथा वर्ग के दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार और चिंतन से प्रभावित होते हैं। उनके स्वरूप को लेखक के अपने वर्ग या समूह और समाज के दूसरे व्यक्तियों के विचारों और भावों से जोड़कर अंतर्वैयक्तिक सम्बन्ध भावना के रूप में ही समझा जा सकता है। साहित्यिक कृति सामूहिक चेतना या परावैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति इसा अर्थ में होती है। उसकी विश्वदृष्टि की संरचनाएं लेखक की निजी निर्मित नहीं होतीं, बल्कि उसके वर्ग के दूसरे व्यक्ति भी उस विश्वदृष्टि के सहभागी होते हैं।"[27]

हिंदी साहित्य में गद्य विधा में आत्मकथा का प्रमुख स्थान है। दलित साहित्यकारों ने अपनी वेदना, सामाजिक चेतना को आत्मकथा के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। आत्मकथा में जीवन में घटित घटनाओं का सम्पूर्ण दस्तावेज होता है। आत्मकथा केवल सुखमय जीवन की घटना की व्याख्या के लिए नहीं होता है वह जीवन की दुखमय और अशोभनीय घटनाओं को ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करने के लिए होता है। लेखक ईमानदारी पूर्वक जीवन की प्रत्येक घटना का उल्लेख करता है। इस प्रकार वह साहित्य के समाजशास्त्र के अधिक निकट दिखाई देते है, इसलिए साहित्य के समाजशास्त्र के प्रतिमान के माध्यम से दलित आत्मकथाओं का विश्लेषण करते है। "आत्मकथाएँ दलित लेखकों के अदम्य जीवन-संघर्ष के साथ आगे बढ़ने का संदेश देती हैं, क्योंकि दलित आत्मकथाकार बताना चाहते हैं कि जो नारकीय जीवन हमें मिला, उसमें व्यक्ति का अपराध नहीं है। शिक्षा, साहित्य, भूमि आदि उत्पादन के साधनों से वंचित और सामाजिक गतिविधियों से अलग-थलग कर हमें मजबूर बना दिया गया। यह हमारे पूर्वजन्मों के कारण नहीं है, बल्कि पक्षपातपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की नियति के कारण है।"[28] दलित आत्मकथा व्यक्ति के जीवन के साथ उसके समय एवं परिवेश की भी व्याख्या करता है। मनोवैज्ञानिक आलोचकों के आधार पर दलित आत्मकथा को किसी व्यक्ति की व्यक्तिगत जीवन घटना का वर्णन है। लेकिन आत्मकथा पढ़ने के बाद यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि वह एक पूरे समाज की परिस्थितियाँ का वर्णन है। "दलित आत्मकथाएँ

दलित समाज के ऐसे दस्तावेज हैं जो दलित जीवन की ऐतिहासिक त्रासदी को व्यक्त करते हैं। लेखकों ने अपने अनुभवों को प्रमाणिक दस्तावेजों का रूप दिया है जो कि दलित-चिंतन की आधारभूत तैयार करते हैं। अपने चिंतन की आग में अनुभवों को तपाकर, विश्लेषित करके इस तरह संयोजित किया है कि पाठक उससे दलित-जीवन के बारे में मत बना सके, उसे जान सके व समझ सके। लेखकों के अनुभव पाठकों-चिंतकों को आधार प्रदान करते हैं कि वे इन अनुभवों के आधार पर कोई दृष्टि विकसित कर सकें। दलित-चिंतन के लिए, ये अनुभव महत्वपूर्ण हैं जिनसे समाजशास्त्री, दार्शनिक, राजनेता बेहद महत्त्वपूर्ण सबक ले सकते हैं।"[29] दलित समाज का वर्णन इससे पहले सुव्यवस्थित ढंग से प्राप्त नहीं होता है। दलित लेखकों ने अपने अनुभव के माध्यम से साहित्य में चिंतन के स्वरूप की दृष्टि विकसित की है। जिसमें सम्पूर्ण मानव समाज के समानता एवं मूल अधिकार की माँग करते है। किसी भी समाज के लिए अपनी संस्कृति एवं सभ्यता होती है, लेकिन दलितों में शिक्षा से वंचित होने के कारण वे इसे लिपिबद्ध नहीं कर सके। शिक्षा प्राप्त होने पर इन्होंने अपने समाज को बचने के लिए सांस्कृतिक एवं समाज को सहेजने का प्रयास है। दलित साहित्य में समाज और संस्कृति की अभिव्यक्ति रचनाओं में प्रमुख रूप से देखी जा सकती है। "ऊपर से देखने पर दलित साहित्य का सरोकार केवल दलित समाज तक ही दिखाई पड़ता है, इसलिए ऊपरी तौर पर इसकी सामाजिकता दलित समाज तक ही दिखाई पड़ेगी; किन्तु इसकी गहराई में मानव मुक्ति का संग्राम छिपा हुआ है, इसलिए इसके सरोकार भी अखिल मानवता से है। इस दृष्टि से दलित साहित्य की सीमा में सम्पूर्ण मानव समाज समा जाता हैं। अत: यहाँ हम दलित साहित्य की सीमित और व्यापक दोनों ही सामाजिकता की बात करेंगे।"[30] दलित साहित्य पर यह आरोप लगता है कि वह केवल दलित समाज का ही साहित्य है लेकिन जब हम दलित साहित्य के चिंतन एवं उद्देश्य को देखते है तो इसमें सम्पूर्ण मानव समाज के मुक्ति एवं मानव जाति का उद्धार दिखाई पड़ता है। भारतीय समाज में गाँव, स्कूल एवं सरकारी कार्यालय का जो मानव समाज पर आदर्श रूप सब के सामने था उसको दलित आत्मकथाकारों ने अपने कोण से दिखाया है। "बेबी काम्बले की आत्मकथा की भूमिका में मैनेजर

पाण्डेय ने लिखा है-'अगर यह आत्मकथा है तो एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि एक समुदाय की आत्मकथा है। व्यक्ति के बदले समुदाय को केंद्र में रखने से इन कृतियों का स्वरूप और मन्तव्य भिन्न हो जाता है। इनमें 'मैं' दृष्टा के रूप में होता है और उसके समुदाय का भूत, वर्तमान ही कथा का प्लाट बनता है। लेखक के 'आत्म' का विस्तार और विकास समुदाय की नियति में गूँथ कर ही प्रकाशित किया जाता है।"[31] दलित आत्मकथाओं की एक सीमा भी है अगर समाज को परम लक्ष्य बना दिया जायेगा तो आत्मकथा के तत्व समाप्त हो जायेगे। दलित आत्मकथाकारों ने समाज के साथ-साथ अपनी भी बात को बखूबी रखा है। आत्मकथाएँ भारतीय समाज के साथ दलित समाज के भीतर अन्याय, जातिगत भेदभाव को उजागर करती है। "समाजशास्त्र का उद्देश्य शोषण और विषमताहीन समाज का निर्माण करना है और इसी के मद्देनजर वर्तमान समाज की आलोचना करना है; समाज में चल रही प्रक्रियाओं को समझना है ताकि परिवर्तन को अंजाम दिया जा सके; तो समाज को शोषण, उत्पीड़न और उससे उत्पन्न पीड़ा को समझने की क्षमता विकसित करनी होगी। इसके लिए समाज वैज्ञानिकों को तर्कसंगत दृष्टिकोण से विभिन्न ज्ञान परम्पराओं को खंगालना तो होगा ही, लेकिन साथ ही एक संवेदनशील मनुष्य की तरह समाज में चल रही शोषण-प्रक्रियाओं को समझते हुए उनसे निरंतर संवाद स्थापित करना होगा।"[32] भारतीय सामाजिक संरचना जाति आधारित है। ब्राह्मणवाद के कई स्वरूप है जिसमें जाति, धर्म और लैंगिक भेदभाव से मुक्ति ही सामाजिक समरसता की कल्पना की जा सकती है। आत्मकथाएँ नये मुक्त समाज की कल्पना की आकांक्षा करती है। आत्मकथा में मनुष्य ही मुख्य चरित्र है।

दलित लेखक ने कला, शिल्प और सौंदर्यशास्त्र से ज्यादा प्रमुखता एक दलित की सामाजिक स्थिति, सांस्कृतिक अस्मिता और उसके आर्थिक अधिकारों को दिया है। "किसी भी दलित आत्मकथा को उठाकर देख लिया जाए, वहाँ सामाजिक अपमान, तिरस्कार, भेदभाव, अन्याय, पिछड़ापन, अन्धविश्वास, झाड़-फूंक, जादू-टोना, अशिक्षा, अज्ञानता आदि एक जैसी समस्याएँ देखने को मिल जायेंगी। इनकी सांस्कृतिक या धार्मिक आस्थाएँ पाखंड, अन्धविश्वास, भूत-प्रेत, दैवीय

शक्तियां अनेकानेक कुरीतियों के अतार्किक वर्चस्व को दर्शाती हैं। इनके जीवन का अर्थशास्त्र भूख, गरीबी, रोग, बालश्रम, शोषण और बेगार के इर्द-गिर्द मंडरा रहा है। ऐसी वितरीत, कटु स्थितियों में भी प्रत्येक दलित लेखक के संघर्ष पर एक नजर भर डालने से ज्ञान होता है कि जो जिजीविषा, अदम्य साहस, जीवट, संघर्षशील, धैर्य इनके मनोवैज्ञानिक को आकार देते हैं, वे दुर्लभ हैं।"[33] दलित आत्मकथा में सामाजिक उत्पीडन, आर्थिक शोषण को प्रमुख स्थान देती है। जिससे लड़कर रचनाकार मुख्यधारा के समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत करता है। दलित समाज के प्रत्येक संरचना को आत्मकथा के माध्यम से आत्मकथाकर परत दर परत सबके सामने रखता है। सम्मान, बंधुत्व, प्रेम और स्वतंत्रता की बात तो अन्य साहित्य भी करते है लेकिन दलित साहित्य मानव मुक्ति की बात करता है। दलित साहित्य में कला और सौन्दर्य देखना व्यर्थ है। यह समाजशास्त्र के प्रतिमानों पर खड़ा हुआ है। जिसमें किसी भी कल्पना लोक में न जाकर यथार्थ चित्रण प्रमुख है। दलित साहित्य मानव श्रम के सौन्दर्य और अन्यायपूर्ण विसंगतियों से मुक्ति को अपना सामाजिक सरोकार माना है और इसके केंद्र में मनुष्य और मनुष्यता है।

## 3.3 दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण :

समाजशास्त्र के केंद्र में मानव समाज होता है जिसमें उसके द्वारा किये गए कार्यो का विश्लेषण किया जाता है। समाजशास्त्रीय विश्लेषण पद्धति एक वैज्ञानिक पद्धति है, जिसमें वह सामाजिक तत्त्वों का अवलोकन और विश्लेषण करता है। साहित्य और समाज किसी भी रूप में संस्कृति और परम्परा को नहीं नकार सकते है उन्हीं के आधार पर समाज का विश्लेषण होता है, जिसमें साहित्य मदद करता है। आत्मकथा में लेखक अपने जीवन की प्रत्येक घटना का उल्लेख करता है जिससे वह आत्मकेंद्रित होता तो है, लेकिन वह साथ ही साथ जिस समाज से उसका सम्बन्ध होता है उसके विषय में उल्लेखित करता है। आत्मकथा लेखन में यथार्थवाद प्रमुख होता है जिससे पाठक और समाज के सभी लोगों का ध्यान आकर्षित करता है, क्योंकि पाठक को लगता है कि यह समसामयिक जीवन में उनके साथ घटित हो रहा है। समाजशास्त्रीय पद्धति में यथार्थवाद और मानव समाज ही प्रमुख तत्त्व है

जिसको लेकर किसी भी विषय का विश्लेषण किया जाता है। दलित आत्मकथा समाज को उन तथ्यों से परिचित कराती है जो आम लोगों को नहीं पता होता है, जबकि ये सब हमारे समाज में घटित हो रहा है। यथार्थवाद आत्मकथा का प्रमुख गुण है, जिसमें 'मैं' के साथ 'हम' जुड़ा होता है। मनुष्य का जीवन अपने आप में प्रमाणिक होता है कोई भी रचनाकार लिखित झूठ नहीं बोलता है, हाँ यह जरुर है कि कुछ तथ्यों को छुपा सकता है।

दलित साहित्य का लेखन बहुत पुराना नहीं है यह आधुनिक युग की देन है। दलित रचनाकारों ने साहित्य की सभी विधाओं में रचना की है लेकिन आत्मकथा ने सभी लोगों का ज्यादा ही ध्यान आकर्षित किया है, क्योंकि आत्मकथा से सभी जुडाव महसूस करते है। हिंदी दलित आत्मकथा में 'अपने-अपने पिंजरे' मोहनदास नैमिशराय पहली आत्मकथा है। दलित आत्मकथाकार जिस समाज से सम्बंधित है उसको हिन्दुओं द्वारा अस्पृश्य माना जाता है। आत्मकथाओं के माध्यम से मुख्यधारा के समाज से कोई सांत्वना नहीं माँगते है बल्कि दलित समाज की अस्मिता और अस्तित्व की खोज आत्मकथा का प्रमुख ध्येय है। दलित आत्मकथा में मुस्लिम समाज का दलितों के सम्बन्ध को भी उजागर किया है। जिसमें मुस्लिम समाज भी दलितों के साथ सवर्णों जैसा ही व्यवहार करते हैं। दलित लेखक अपने समाज की अस्मिता, संस्कृति को प्रमुख स्थान देते है। "आत्मकथा में उठाया गया संस्कृति का सवाल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। असल में नैमिशराय जी यही प्रबोधन अपनी कौम और तमाम दलित समाज को देना चाहते हैं कि अपने आपको पहचानों, अपनी संस्कृति की खोज करो। इतिहास तुम्हारा भी है, वही इतिहास सत्य नहीं है, जिसे कुछ लोगों ने अपनी सुविधा के लिए लिख डाला है: अन्यथा तुम्हें समाज इसी प्रकार रौदता रहेगा। हिन्दू तुम्हें दलित समझकर रौंदेगे और मुसलमान हिन्दू दलित। तुम न हिन्दू बन सकोगे, न मुसलमान अथवा और कोई प्रतिष्ठित कौम। आखिर तुम्हारी पहचान क्या है?"[34] दलित समाज मुख्यधारा के समाज के सामने अपने पहचान के संकट को उठाया है। यही प्रश्न दलित साहित्य के सामने आता है। हिन्दू समाज ने भारतियों को जातियों और वर्णों में विभक्त कर रखा है जिससे अन्य धर्म भी अछूते नहीं है। दलित समाज की अपनी

संस्कृति और सभ्यता रही है लेकिन शिक्षित न होने के कारण उनको सहेजकर नहीं रख सका। कोई भी समाज का अस्तित्व तब तक रहता है जब उसकी कोई संस्कृति और सभ्यता हो, लेकिन दलितों ने अपनी संस्कृति और सभ्यता को बचाए नहीं रखा जिससे आज वे अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए लड़ रहे है। इसलिए दलित रचनाकारों ने सर्वप्रथम अपनी संस्कृति और सभ्यता को बचने के लिए आत्मकथा जैसी विधा को चुना है। "दलित आत्मकथा से क्षेत्र-विशेष की दलित जातियों, दलित समाज की रीति-रिवाज, परम्पराएँ, रहन-सहन, आचार-विचार, व्यवहार, तीज-त्यौहार, पूजा-पाठ एवं धार्मिक भावनाएँ तथा दलित जातियों में में व्याप्त बुराइयों का पता चलता है। मोहनदास नैमिशराय ने भी अपनी आत्मकथा में उपरोक्त सभी बातों का वर्णन किया है। दलित समाज के लोगों में कई बड़े मनोविकार हैं। उनके अन्दर आत्मग्लानि है। उनमें आत्मविश्वास, आत्मसम्मान की कमी है। दलित-ब्राह्मणवाद इनमें भी व्याप्त है। आतंरिक बुराइयों में, दलितों में दलित अर्थात अपने में भेदभाव एवं छुआछुत की भावना है। अछूत स्वंय दूससे अछूत से अस्पृश्यता की बर्ताव करता है।"[35] दलित रचनाकार अन्य समाज के यथार्थ के साथ अपने समाज के गुणों एवं दोषों को भी रेखांकित करते है और उसे भी ब्राह्मणवाद से जोड़ते है। आत्मकथा में रचनाकार अपनी भी कमी को दिखने से घबराते नहीं है और उन पर खुलकर बात करते है, जो बेहतर समाज निर्माण के लिए आवश्यक है। मोहनदास ने साथ रह रहे मुस्लिम समाज के विषय में बताया कि उनके रहते ही कई दंगे हुए और अख़बार वालों ने उसे दलित और मुस्लिम के दंगे के रूप में प्रकाशित किया। जबकि दलित समाज भी हिन्दू समाज का अंग है। लेकिन इस मौकों पर उसे हिन्दू समाज से अलग ही रखा जाता है। लेकिन जब भी सवर्णों के साथ मुस्लिम समाज की लड़ाई होती थी तो उसमें दलित समाज को भी शामिल किया जाता था और हिन्दू मुस्लिम दंगा कहकर संबोधित किया जाता। वैसे दलितों का सम्बन्ध मुस्लिम समाज से अच्छा था जब ईद होती थी तो मांस, सेवई दलित के घर भी आता था और सब उसे बड़े चाव से खाते थे और दलित समाज कोई उत्सव मानते तो मुस्लिम समाज के लोगों को बुलाते। पहली दलित आत्मकथा होने के नाते यह समाज में सामाजिक-सांस्कृतिक संवेदना जगाने में सफल रही है।

दलित आत्मकथा में एक समाजशास्त्री की दृष्टि पूरे आत्मकथा को पढ़ने के दौरान मिलती है जो पूरे सामाजिक ताने-बाने पर अपनी नजर रखते है। राजनीतिक दृष्टिकोण के साथ-साथ एक सजग समाजशास्त्रीय  का मेल हो जाने से उनके युग एवं परिवेश की झलक मिलाती है। "आत्मकथाओं में काल की क्रमबद्धता होती है। पूर्व वृत्तान्त, अपने कुनबे का परिचय (बच्चन की आत्मकथा का पहला खंड-कायस्थ जाति का विस्तृत परिचय), जन्म, तत्कालीन परिस्थितियाँ, बचपन, युवावस्था, पढाई-लिखाई, सफलता-असफलता, वैवाहिक जीवन, सार्वजानिक जीवन की उपलब्धियाँ, प्रौढ़ावस्था, संपर्क में आये व्यक्ति, आत्म-परीक्षण वृद्धावस्था, गंभीर दार्शनिक चिन्तन, इस प्रकार का क्रम वहाँ होता है। दलित स्वकथनों में अपनी जाति, इस जाति-व्यवस्था में जीने वाले तबके, उनका आचरण, रोटी-रोजी समस्या, समृद्ध तथा सवर्ण समाज का इनके प्रति रवैया, दैनंदिन जीवन में होने वाले अपमान, शोषण, अन्याय, अत्याचार,पैदा की जाने वाली रुकावटें आदि का वर्णन यहाँ अधिक होता है।"[36] आत्मकथा लिखते हुए लेखक अपने समाज के लोगों एवं अन्य समाज की बात करते है तो अपने इतिहास के साथ-साथ अपने वर्तमान में घटित घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन होता है। दलित रचनाकार को शिक्षा एवं अन्धविश्वास की बात करने पर अपने समाज से ही विरोध झेलना पड़ता है। कुछ एक लोग मदद के लिय आगे आते है लेकिन विरोधियों की संख्या बहुत अधिक होती है जिनसे वह समाज से लड़कर आगे बढ़ता है।

भारतीय समाज कई स्तरों पर विभाजित है। जैसे-जैसे एक अध्येता के तौर पर इसका अध्ययन करते है तो इनमें असमानता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। 'ओमप्रकाश वाल्मीकि' की आत्मकथा 'जूठन' भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अंतिम पायदान पर स्थित वाल्मीकि (जिसे चूहड़ शब्द से भी संबोधित किया जाता है) से सम्बन्ध है। आत्मकथा के मध्यम से वाल्मीकि ने ऐसे सच को उल्लेखित किया है जो अभी तक हिंदी साहित्य में नहीं दिखा था। इनकी रचना में कल्पना का कोई सम्बन्ध नहीं है एवं एक समाज के द्वारा भोगे गए यथार्थ का चित्रण है। "दलित जीवन की पीडाएं असहनीय और अनुभव दग्ध हैं। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज

व्यवस्था में हमने सांसें ली हैं, जो बेहद क्रूर और अमानवीय है। दलितों के प्रति असंवेदनशील भी।...तमाम कष्टों, यातनाओं, उपेक्षाओं, प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिक यान्त्रनाएँ मैंने भोगी। स्वंय को परत-दर-परत उधेड़ते हुए कई बार लगा की कितना दु:खदायी है यह सब! कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है।... जो सच है, उसे सबके सामने रख देने से संकोच क्यों?... इस पीड़ा के दंश को वही जानता है जिसे सहना पड़ा।"[37] दलित रचनाकारों ने भारतीय समाज के नियम, कायदा को बहुत ही सच्चाई के साथ सभी लोगों के सामने रखा है जिसमें रचनाकारों ने अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक घटनाओं का उल्लेख भी ईमानदारी के साथ रखने में संकोच नहीं किया है। जूठन आत्मकथा में शिक्षा के महत्त्व के विषय में बात की गई है। जिस समाज को शिक्षा का महत्त्व ज्ञात न हो, और उनके पूर्वज अपना पूरा जीवन सवर्णों के काम-काज में लगा दिए हो, उन्होंने यह स्वीकार कर लिया हो कि हमारा जीवन केवल सेवा करने के लिए हुआ है। वह समाज अपने बच्चों को स्कूल किस मानसिकता के साथ भेजता।

वाल्मीकि ने अपने समाज में शादी के समय सलाम प्रथा का भी उल्लेख किया है जिसमें शादी के बाद वर अपने ससुसल में उन घरों के सदस्यों को सलाम करने जाता है, जहाँ वे परम्परागत रूप से सफाई का काम करते है। वधू पक्ष वहाँ से अपनी बेटी के लिए सामान एकत्रित करते है और उसी के साथ विदा कर देते है। यह परम्परा जो सफाई करते है उनके समुदाय में कायम है। लेखक भी सलाम प्रथा में अपने मित्र हिरम सिंह के साथ जाते है-"प्रत्येक घर के सामने खड़े होकर ढोल बजने वाला जोर से ढोल पीटता था जिसकी आवाज सुनकर औरतें, लडकियाँ बाहर आती थीं। हिरम सिंह उन्हें सलाम करता था। वे घूँघट के कोनों से हिरम सिंह को ऐसे निहारती थीं जैसे हिरम सिंह को चिड़ियाघर से लेकर आए हैं। किसी-किसी का व्यवहार बेहद रुखा और अपमानजनक होता था। लेने-देने पर दुल्हन की माँ को काफी सुनना पड़ता था। यानी आसानी से किसी के हाथ से कोई कपडा या बर्तन नहीं छुटता था। हिरम की सास कहती थी-"चौधराईन, मेरी कोई दो-चार लौंडी तो है नी जो मेरे और जमाई थारे दरवज्जे पे आवेंगे। इज्जत से लड़की को भेज सकूं, ऐसा तो कुछ दो..." लेकिन इस

गिडगिडाहट का कोई असर दिखाई नहीं पड रहा था। कोई-कोई तो अजीब मुद्रा में मुंह बनाकर कहते- " इन चूहड़ों का भी कभी पेट ही ना भरता।"[38] वाल्मीकि ने अपने भाई की शादी में सलाम करवाने से मना कर दिया और बहन की शादी में बहनोई को भी सलाम के लिए कहीं भी नहीं ले गया। जिससे लेखक के पिता उनका सहयोग करते हुए कहते है कि आज पढ़ाने का मतलब समझ में आया है। इस प्रकार लेखक के यहाँ से सलाम प्रथा ख़त्म हो जाती है। यह प्रथा दलित समाज को जीवन शुरू करने से पहले ही हीनता बोध से भर देती है। सवर्ण समाज के लोग तो सलाम प्रथा नहीं करते है फिर दलित समाज यह क्यों कर रहा है। यह तर्क जब लोगों के सामने वाल्मीकि ने रखा तो सब उसके सहयोग में आ गए और इस प्रकार इस प्रथा का अंत हो गया।

ओमप्रकाश वाल्मीकि जिस समाज से आते है उनके धार्मिक परम्परा, संस्कार, मान्यताएं और धार्मिक आस्थाओं की जानकारी 'जूठन' में मिलती है। "कहने को तो बस्ती के सभी लोग हिंदू थे, लेकिन किसी हिंदू देवी-देवता की पूजा नहीं करते थे। जन्माष्टमी पर कृष्ण की नहीं, जहारपीर की पूजा होती थी या फिर 'पौने' पूजे जाते थे। वे भी अष्टमी को नहीं, 'नवमी' के ब्रह्ममुहूर्त में। इसी प्रकार दीपावली पर लक्षी का पूजन नहीं, माई मदारन  के नाम पर सूअर का बच्चा चढ़ाया जाता है या फिर कडाही की जाती है।...इस तरह त्यौहार कोई भी हो, पूजा इन्ही देवी-देवताओं की होती है।"[39] आत्मकथा में दलितों को हिन्दू होने पर सवाल करती है। जब हमारे त्यौहार में पूजे जाने वाले भगवान भिन्न है और उनकी पूजा-अर्चना के तरीके में अंतर है तो दलित हिन्दू कैसे हो सकते है। दलित समाज और हिन्दू समाज में धार्मिक रूप से अन्तर है। लेखक कहता है कि अगर वह भी हिन्दू है तो उनसे इतनी घृणा या भेदभाव क्यों करते है? हर समय जातीय-बोध की हीनता मस्तिष्क में क्यों भर देते है? जिस धर्म में समता एवं बंधुत्व न जहाँ भेदभाव ही प्रमुख हो उस धर्म का हिस्सा नहीं होना चाहिए।

दलित समाज के लिए सामाजिक, धार्मिक के साथ-साथ आर्थिक प्रश्न भी प्रमुख है। दलितों को सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित किया जाता है और उनके श्रम का उचित मूल्य नहीं दिया जाता है जिससे दलित समाज आर्थिक बदहाली का शिकार होता है। "घर के सभी सदस्य आजीवन

काम करते रहे हैं, मगर आर्थिक संकट समाप्त नहीं हुए। चाहे फसलें कटाने का सवाल हो या ईख बोने का, इनसे अधिकतर बेगारी ही करवाई जाती रही हैं। चाहे घरों की सफाई का मामला हो, पशुओं के बांधने की जगह से गोबर कूड़ा-करकट उठाकर उसे साफ करने का या मृत पशुओं को उठाने का, सभी जगह दलित समाज के लोग ही जुटे रहे हैं। इतने श्रम साध्य काम के बदले मात्र गलियां...। कितने क्रूर समाज में रहे हैं हम, जहाँ श्रम का कोई मोल ही नहीं बल्कि निर्धनता को बरक़रार रखने का एक षडयंत्र ही था यह सब।"[40] भारतीय ग्रामीण व्यवस्था में दलित समाज जो अपनी आजीविका के लिए सवर्ण समाज पर निर्भर है उसे दिनभर मजदूरी कराके उसके श्रम का मूल्य नहीं दिया जाता है। दलित समाज का पूरा परिवार सवर्णों के यहाँ काम करता है फिर भी घर की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय है। लेखक की माँ लेखक को जानवर की खाल निकालने के लिए भेज देती है क्योंकि खाल बेचकर लेखक के परिवार को 20-25 रु. मिल जायेगा। जिससे परिवार को दो-तीन दिन के लिए खाने की समस्या से नहीं जूझना पड़ेगा।

दलित आत्मकथा सामाजिक चेतना के निर्माण में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। दलित साहित्य ने समाज में लोकतान्त्रिक मूल्यों को स्थापित करने और विचारों को साहित्य का आधार बनाने में मदद की। सूरजपाल चौहान ने दो आत्मकथाएँ लिखी है तिरस्कृत, संतप्त। प्रथम भाग में लेखक ने अपने संघर्षों और सामाजिक,धार्मिक स्थिति की चर्चा की है। दूसरे भाग में दाम्पत्य जीवन के संबंधों के विषम में मुखर होकर बात की है। "काशीनाथ सिंह ने सूरजपाल चौहान की आत्मकथाओं पर लिखा है-"'तिरस्कृत' यदि तिरस्कृत होने की आत्मकथा है तो 'संतप्त' तिरस्कृत होने के संताप की। तिरस्कृत अपने गाँव से, अपने मुहल्ले से,अपने स्कूल और कालेजों से, अपने कार्यालय और अफसरों से। इस सारे तिरस्कारों का मुकाबला किया जा सकता है बशर्ते परिवार साथ हो, भाई साथ हो, रिश्तेदार, नातेदार साथ हों। लेकिन उस संतप्त का कोई क्या करें जिसे तमाम लोगों के सिवा पत्नी और बेटे तक के तिरस्कार ने दिया हो! सच पूछिए तो ये दोनों आत्मकथाएँ जुड़वां हैं। पैदा जरुर आगे पीछे हुई हैं लेकिन है जुड़वां। मगर तिरस्कार की पीड़ा महसूस करनी हो तो 'संतप्त' पढ़िए और वजहें

जाननी हों तो 'तिरस्कृत' पढ़िए! ईमानदारी दोनों में है- दु:साहस की हद तक! इस अर्थ में यह हिंदी की अकेली, बेबाक, बेजोड़ और 'बोल्ड' आत्मकथा कही जाएगी। ऐसी कृति लिखना बहुत जिगरे का काम था जो सूरजपाल ने किया है।"[41] हिंदी साहित्य में जो दलित आत्मकथाएँ लिखी गई है उनमें अंधविश्वास, गरीबी, अशिक्षा और भूख को जीवन का हिस्सा माना गया है। इस आत्मकथा में भूख से संघर्ष, जूठन पाने के लिए परिश्रम देखने को मिले है। मानव जीवन के लिए मूलभूत आवश्यकताएँ रोटी,कपड़ा और मकान दलित समाज से हमेशा से दूर रहा है। भारतीय समाज में जातिप्रथा की जड़े इतनी गहरी है कि आधुनिक युग में शिक्षित और शहर के लोग भी जाति व्यवस्था से ग्रसित है।

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' श्यौराज सिंह बेचैन की आत्मकथा में देखने को मिलाता है कि दलित समाज के लड़का को भारतीय व्यवस्था कैसे ख़त्म कर देना चाहती है लेकिन उसका जीवन जीने के प्रति संघर्ष ही उसे सफल बनाता है। बचपन में ही पिता के देहांत के बाद माँ और लेखक के बचपन के सपनों को रौद दिया। सुरक्षा और भूख की चिंता के लिए माँ को पति रूपी सहारे की आवश्यकता थी। इसके लिए उन्होंने रामलाल को चुना। भारतीय समाज में किसी भी स्त्री के पति की मृत्यु असमय हो जाती है तो पति के साथ महिला को भी जला दिया जाता था जिसे सती प्रथा कहते है या वह अन्य किसी भी पुरुष के साथ विवाह नहीं कर सकती है। जबकि दलित समाज में यह पहले से ही था कि पति या पत्नी की मृत्यु के बाद महिला या पुरुष विवाह करने लिए स्वतंत्र है। दलित आत्मकथाओं में यह चेतना देखने को मिलाती है। "पुनर्विवाह करना, विधवा विवाह करना या स्त्री-पुरुष को परस्पर सहमति से छोड़ना-जोड़ना हमारे यहाँ सामान्य प्रक्रिया थी। ब्राह्मणों जैसे जटिलता हमारे यहाँ आज भी नहीं है जिसमें विधवा स्त्री जिंदगी भर दूसरों पर बोझ बनी बैठी रहती है।"[42] भूख और गरीबी इस आत्मकथा के बीज तत्त्व है उसमें अन्धविश्वास और सामाजिक शोषण भी प्रमुख रूप से देखने को मिलता है। हिन्दू धर्म ने पिछले जन्म के कर्मफल के आधार पर यह जीवन मिलने की अवधारण को शोषण को समाज में बनाये रखने का उद्देश्य भी रहा है।

डॉ.. तुलसीराम की आत्मकथा मुर्दहिया का प्रारंभ ही अंधविश्वास और अशिक्षा से होता है। बचपन में ही चेचक के कारण लेखक की आँख चली जाती है तब उन्हें सब कनवा संबोधित करते है। भारतीय ग्रामीण संरचना के विषय में उन्होंने दलितों की बस्तियाँ दक्षिण दिशा में क्यों बसाई जाती है इसका हिन्दू अन्धविश्वास से उत्तर दिया कि कोई भी आपदा पहले दक्षिण दिशा से अति है। इसलिए गाँव में हमेशा दक्षिण में दलितों को बसाया जाता है। उन्होंने अपने आत्मकथा के नाम को भी व्याख्यित किया है जिसमें बताया है कि गाँव के लिए यही रास्ता था जो किसी भी कार्य के लिए हमेशा उपयोग में लिया जाता था, चाहे किसी की शादी हो, मृत्यु हो, शहर जाना हो, कोई जानवर मर गया हो तो उसकी खाल निकालना हो, जानवर चराने जाना हो , किसी मृत को दफनाना हो सभी कार्यों के लिए एक ही स्थान था। जिसे  मुर्दहिया कहते है। "मुर्दहिया हिंदी आत्मकथा साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण पड़ाव है, जिसे केवल 'दलित साहित्य' के परिपेक्ष्य में ही नहीं, मानव की जीवन इच्छाशक्ति व संघर्ष यात्रा के रूप में भी आंकलित किया जाना होगा। हालांकि इसका लोक जीवन, दलितों का दु:ख –दर्द, विश्वास-मान्यताएं, अपमानजनक स्थितियों, मानसिक द्वंद्व, गरीबी, वर्णवादी व्यवस्था, अन्याय व शोषण, दलितों की आतंरिक व्यवस्था के साथ-साथ कुछ अद्भुत लोकचरित्र ऐसा परिदृश्य हिंदी पाठकों के सम्मुख लाते हैं, जिनसे वे अपरिचित रहे हैं। जिसे वर्णवादी दृष्टि ने कभी न देखा, न सोचा, न उसे समग्र रूप से उजागर करना आवश्यक समझा। यही नहीं, इस कृति का शब्द वैभव भी अनोखा है। इसमें लोक जीवन का आख्यान लोक शब्दों के माध्यम से सम्मुख आया है।"[43]

दलित समाज के लोक तत्त्व को डॉ.. तुलसीराम ने आत्मकथा के माध्यम से सबके सामने रखा है। पूर्वांचल में ग्रामीण जीवन में जो शब्द अब मृत प्राय पड़े थे उनसे सभी पाठकों का परिचय कराया। "पंचायत द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों के क्रम में डांगर (मरे पशु का मांस), शिवनारायानी पंथ के आयोजन के सम्बन्ध में गादी लगाना (तीन अवसरों पर चेलों की उपस्थिति में समारोह), मृतक के अंतिम संस्कार के सन्दर्भ में बहुरी (गेहूं के दाने), बहुरी भुजाने (गेहूं को भाड में भूनना) तथा डीह बाबा की पूजा के क्रम में भतुआ (एक प्रकार का कद्दू) सूअर की बलि के सन्दर्भ में खोभार (बलि से पहले

सूअर रखने की जगह) हिकना (दो फीट लम्बा अत्यंत नुकीला सरिया) तथा रहटठा (अरहर का डंडा) आदि शब्दावली का अर्थसहित प्रयोग अनभिज्ञ पाठक के लिए भी लोक प्रचलित शब्द जगत के द्वार खोलता है।"[44]

डॉ. धर्मवीर की आत्मकथा 'मेरी पत्नी और भेड़िया' में जीवन की कथा न होकर यह विवाह के बाद की पारिवारिक कलह की निजी कथा है। यह दलित समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक के मूल्यों को स्थापित करने वाली रचना नहीं बल्कि व्यक्तिगत समस्या को लाने एवं बिखराव की कथा है। "यह आत्मकथा 'जूठन' 'अपने अपने पिंजरे' 'नागफनी' 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' आदि की भांति दलित उत्पीडन, भेदभाव, गरीबी, अशिक्षा, भूख, अन्धविश्वास, शोषण की कथा न होकर 'तिरस्कृत' और 'संतप्त' की भांति पारिवारिक त्रासदी की आप बीती सुनाती है, किन्तु इसा कथा में 'संतप्त' के लेखक जैसी असहायता व अवसाद नहीं है। यह कथा मूलत: पत्नी और छोटे भाई के संबंधों को रेखांकित करने के उद्देश्य से लिपिबद्ध है, जिसमें लेखक प्रत्येक प्रमाण साक्ष्य तर्क व पक्ष के साथ उपस्थित है।"[45] यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि एक विद्वान् लेखक अपने जीवन के उतार-चड़ाव के निजी संघर्ष को क्यों लिपिबद्ध कर रहा है जबकि अन्य दलित आत्मकथाकर गरीबी, अशिक्षा, अन्धविश्वास, शोषण, उत्पीड़न को रेखांकित कर रहे है।

## सन्दर्भ सूची:


1.शुक्ल, आचार्य रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण नवीनतम; पृष्ठ 15

2. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; संस्करण 2016; पृष्ठ 11

3. सिंह, बच्चन; साहित्य का समाजशास्त्र; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 2011; पृष्ठ 03

4. वही, पृष्ठ 03

5. डॉ. शर्मा, हरद्वारीलाल; साहित्य और कला; हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग; संस्करण 1959; पृष्ठ 02

6. वही, पृष्ठ 05

7. वही, पृष्ठ 16

8. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; साहित्य का उद्देश्य-प्रेमचंद; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 22

9. वही, पृष्ठ 23

10. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; मनुष्य साहित्य का लक्ष्य है-हजारी प्रसाद द्विवेदी; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 49

11. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; संक्रांति-काल की कुछ साहित्यिक समस्याएँ- अज्ञेय; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 57

12. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; मनुष्य साहित्य का लक्ष्य है-हजारी प्रसाद द्विवेदी; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 43

13. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 24

14. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; कविता क्या है- आचार्य रामचंद्र शुक्ल; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 112

15. संपादक नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र; साहित्य का उद्देश्य-प्रेमचंद; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013 पृष्ठ 34

16. डॉ. सिंह, जे.पी.; प्रारम्भिक समाजशास्त्र; बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना; संस्करण 2003, पृष्ठ 01

17. वही, पृष्ठ 35

18. वही, पृष्ठ 37

19. आहूजा,राम; मुकेश आहूजा; समाजशास्त्र; रावत पब्लिकेशन, जयपुर; संस्करण 2015; पृष्ठ 01

20. वही, पृष्ठ 03

21. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; संस्करण 2016; पृष्ठ11

22. वही, पृष्ठ 12
23. वही, पृष्ठ 49
24. स. जैन, निर्मला; साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन; हिंदी मध्यम कार्यन्वय निदेशालय; दिल्ली विश्वविद्यालय, संस्करण 2009; पृष्ठ 09 (भूमिका)
25. वही, पृष्ठ 47
26. सिंह, बच्चन; साहित्य का समाजशास्त्र; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 2011; पृष्ठ 90-91
27. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; संस्करण 2016; पृष्ठ 166
28. नैमिशराय, मोहनदास; हिंदी दलित साहित्य; साहित्य अकादमी; नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 172
29. चन्द्र, सुभाष; दलित आत्मकथाएँ अनुभव से चिंतन; साहित्य उपक्रम, दिल्ली; संस्करण 2012; पृष्ठ 156
30. ठाकुर, हरिनारायण; दलित साहित्य का समाजशास्त्र; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 73
31. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र; नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद; संस्करण 2015, पृष्ठ 152
32. जैन, पुनीता; हिंदी दलित आत्मकथाएँ; सामयिक पेपरबैक्स, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 57
33. वही, पृष्ठ 58
34. ठाकुर, हरिनारायण; दलित साहित्य का समाजशास्त्र; भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 448
35. यादव, रामअवतार; दलित आत्मकथा दलित महाकाव्य; अमन प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2016; पृष्ठ 94
36. नैमिशराय, मोहनदास; हिंदी दलित साहित्य; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 177
37. काजल, अजमेर सिंह; दलित आत्मकथाएँ; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ177
38. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 42
39.वही, पृष्ठ 53
40. काजल, अजमेर सिंह; दलित आत्मकथाएँ; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 75
41. वही, पृष्ठ 125
42. वही, पृष्ठ 170
43. जैन, पुनीता; हिंदी दलित आत्मकथाएँ; सामयिक पेपरबैक्स, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 265
44. वही, पृष्ठ 269
45. वही, पृष्ठ 249

## चतुर्थ अध्याय

# मराठी की दलित आत्मकथाएँ और समाजशास्त्रीय अध्ययन

भारत भौगोलिक रूप से बहुत विस्तृत देश है। यह बहुत राज्यों एवं केंद्र शासित राज्यों में विभक्त है। भारत के सामाजिक संरचना को समझने के लिए राज्यों के भौगोलिक एवं भाषीय स्थिति को समझना होगा। उन्हीं राज्यों में एक महत्त्वपूर्ण राज्य है महाराष्ट्र। जो दक्षिण भारत से लगा हुआ है। महाराष्ट्र का एक भाग समुद्री सीमा से भी लगता है। "चंदोर और इरोर मंजीरा जो कृष्णा पर बसा हुआ है के बीच का भाग निश्चय ही अत्यंत निश्चित रूप से मराठा देश है। इस भूभाग की भाषा में सबसे कम परिवर्तन है। पूर्व निर्धारित नियम का अधिक विस्तृत रूप से अनुगमन करने पर महाराष्ट्र वह भूभाग है जिसके उत्तर में सतपुड़ा पर्वत श्रेणियाँ हैं और जो पश्चिम में नान्दोर से आरंभ होकर इन पर्वत श्रेणियों के किनारे-किनारे नागपुर के पूरब वेनगंगा तक फैला हुआ है। वर्धा नदी से इसका संगम होने तक, इस की पूर्वी सीमा है। यह भूभाग इन दोनों नदियों के संगम से आरंभ होकर, वर्धा नदी के पूर्वी तट से मनिक दुर्ग तक और वहाँ से पश्चिम की ओर महोर तक रेखांकित किया जा सकता है। महोर से गोवा तक एक लहरदार रेखा खींची जा सकती है। समुद्र इसकी पश्चिमी सीमा है।"[1] भौगोलिक आधार पर देखें तो महाराष्ट्र बहुत ही विस्तृत सीमा क्षेत्र से लगा हुआ है। जहाँ पर्वत श्रेणियाँ, नदियाँ एवं समुद्र तट भी इसकी सीमाओं में आते हैं। इतने बड़े भूभाग पर जो भी समाज निवास कर रहा होगा, वह सांस्कृतिक रूप से भी बहुत विकसित होगा। आधुनिक समय में भी महाराष्ट्र की संस्कति के कई स्वरूप देखने को मिलते है। "महाराष्ट्र पहाड़ी देश है। इसकी घाटियाँ सुसिंचित हैं और इसकी जलवायु संभवत: भारत भर में सर्वाधिक स्वास्थ्यकर है किंतु खेती-बाड़ी मिट्टी और उपज में या भारत के अन्य उपजाऊ प्रदेशों की समता नहीं कर सकता।

नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी, भीमा और कृष्णा यहाँ की मुख्य नदियाँ हैं। इन नदियों के किनारे कुछ दूर तक की मिट्टी साधारण है उत्कृष्ट है और यहाँ की उपज की समृद्धि और प्रचुरता की बराबरी नहीं

की जा सकती। गोदावरी (मराठे से गंगा कहते हैं ), भीमा और उनकी सहायक नदियाँ, नीरा और मान के तट की घोड़ों की नस्ल के लिए विख्यात हैं। विशेषकर नीरा और मान के तटों के घोड़े छोटे होने पर भी दक्षिण की घोड़ों में सर्वोत्तम और सर्वाधिक पुष्ट होते हैं।"[2] सांस्कृतिक एवं परंपरागत रूप से कुछ न कुछ सभ्यताएँ विकसित हुई होंगी और इन्हीं को अभिव्यक्ति के लिए सर्वप्रथम भाषा का प्रयोग हुआ होगा। इस भूभाग में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं। लेकिन मराठी भाषा इस भूभाग की एक सर्वमान्य भाषा है जो अपभ्रंश से विकसित हुई।

"महाराष्ट्र-भाषा-भाषी जनता परिश्रमशील, रूखी, बुद्धि-प्रधान, कम भावुक और लगनशील हैं। वे जिस किसी कार्य को लेते हैं, उसमें पूरे प्राण-पण से जुड़ जाते हैं। राम गणेश गडकरी उर्फ 'गोविंदाग्रज' कवि ने महाराष्ट्र-वंदना में इसका वर्णन करते हुए कहा है कि 'यदि फूलों का देश है वैसे पत्थरों का भी है। यह मजबूत शरीर वाले और मोटा-झोटा खाने-पहनने वालों का देश है।' क्या बात बहुत अंशों में सही है।"[3] महाराष्ट्र राज्य के नामकरण को लेकर विद्वानों में मतभेद दिखाई पड़ते हैं। महार जाति के निवास के कारण इस क्षेत्र का नाम महाराष्ट्र पड़ा, लेकिन कुछ विद्वान ऐसा नहीं मानते हैं उनके अनुसार महाराष्ट्र की व्युत्पत्ति 'मरता तब हटता'। इस शब्द के प्रयोग बताई गई है। जो वीर सैनिकों के लिए होता रहा होगा। लेकिन यह कारण भी यथोचित नहीं लगता है। 'मर हट' शब्द से भी लोग महाराष्ट्र प्रदेश की व्युत्पत्ति मानते हैं, जो युद्ध भूमि में मरने के बाद ही हटता है। कुछ विद्वान महार+राष्ट्र बराबर महाराष्ट्र।

## 4.1 मराठी समाज और दलित:

महाराष्ट्र प्रदेश में निवास करने वाली बहुसंख्यक जनता हिंदुओं की है। महाराष्ट्र में जैन, बौद्ध, मुस्लिम, पारसी अन्य धर्मों के लोग निवास करते थे। लेकिन महाराष्ट्र में हिंदुओं बहुसंख्यक है अन्य धर्म के लोग अल्पसंख्यक है। "इस प्रदेश की अधिकांश जनता हिंदुओं की है जो शास्त्रों के अनुसार चारों वर्णों में विभक्त हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह चारों वर्ण नाम मात्र के लिए परिलक्षित

किंतु भ्रष्ट, लुप्त और बहुत ही अधिक उप-विभाजित हैं। ब्राह्मण पुरोहिती कहते हैं। इनका जीवन भगवान की पूजा और ध्यान में तथा आचरण उपदेश द्वारा व्यवहारिक शिक्षा देने में लगा रहना चाहिए जिससे कि मनुष्य देवताओं का आग्रह प्राप्त कर पुनर्जन्म होने पर और अधिक ऊँची स्थिति प्राप्त करें। उनको सांसारिक बातों में हाथ ना डालना चाहिए। किंतु वे बहुत दिनों से सब हिंदू राज्यों में मुख्य नागरिक और सैनिक अधिकारी होते आए हैं। वे ब्राह्मण जो कठोरता से अपने धर्म के सिद्धांतों का अनुगमन करते हैं और धर्म शास्त्रों के ध्यान में अपना जीवन लगाते हैं, बड़ी श्रद्धा से देखे जाते हैं।"[4] भारत की सामाजिक संरचना के अनुसार ही महाराष्ट्र समाज में हिंदुओं के चार वर्ण हैं। जिसमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्मणों का मुख्य कार्य पूजा-पाठ ध्यान का है लेकिन ब्राह्मण राजा महाराजा और सैनिक अधिकारियों के पद को भी सुशोभित करता रहा है। प्रत्येक वर्ण की अपनी-अपनी उपजातियाँ रही हैं। उसी प्रकार ब्राह्मणों में भी उनकी कुछ उपजातियाँ रही हैं। महाराष्ट्र में ब्राह्मणों के आठ वर्ग बताए गए हैं। जिनके रीति-रिवाज एक दूसरे से अलग अलग हैं। दूसरा वर्ण क्षत्रिय का है। क्षत्रिय महाराष्ट्र में बहुत कम संख्या में मिलते हैं। यही कारण है कि ब्राह्मण समाज के लोग राज-काज भी देखते है। तीसरा वर्ग वैश्य है, और अंतिम वर्ग शूद्र है। इन चार वर्गों के अलावा भी महाराष्ट्र में एक बहुसंख्यक जनता है जिनको वर्णशंकर की संताने हैं, जिनके अपने व्यवसाय और अपने समुदाय हैं और इनकी गणना हिन्दू धर्म में की जाती है। "इन चार वर्णों के अतिरिक्त विशाल हिंदू समुदाय में चार वर्णों की वर्णशंकर संतानें और उनकी आपस की वर्णसंकर संतानें हैं। इन वर्णशंकारों के अपने ही समुदाय, श्रेणियाँ, व्यवसाय और विशेष धंधे हैं। इनकी संख्या अगणित है। सब शिल्पी और कारीगर इसी अवैध वंश के हैं। महाराष्ट्र में इनकी गिनती शंकर जाति में की जाती है।"[5]

मराठी समाज में यह समुदाय हिन्दू मान्यताओं के आधार पर जीवन यापन करता था। यह समुदाय समाज में उच्च वर्ग की स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता था चाहे वह उच्च वर्ग के पुरुष से पैदा हुआ हो। वह समाज में मेहनतकश कार्य करके अपना आजीविका चलाता था। "महाराष्ट्र में रहने वाले आर्य भोज और यादव जाति के थे। अत: उनकी भाषा शौरसेनी से लगी हुई थी। महाराष्ट्र कुछ

मामलों में मागधी और विशेषता अर्द्धमगधी से बहुत-कुछ मिलते जुलते हैं। इसका कारण पूर्व की ओर उनका महाराष्ट्र से संबंध था। अपभ्रंश की उत्पत्ति ईसा की पांचवी-छठी शती में हुई। ईसा की दसवीं-ग्यारहवीं शती में अपभ्रंश को  आज का रूप मिला। मराठी भाषा और अन्य भारतीय भाषाओं का उद्गम इसी समय हुआ। मागधी से बंगाली, महाराष्ट्री से मराठी, पैशाची से पंजाबी, शौरसेनी से हिंदी।"[6]

महाराष्ट्र में ब्राह्मण भक्त तीन प्रकार के भक्त होते थे ब्रह्मचारी, वानप्रश्थी और सन्यासी। यद्यपि बनियों के भी अपनी भक्ति के स्वरूप है। लेकिन इन सब में से गोसाई, वैरागी तो ऐसे भक्त संप्रदाय थी जो बहुत ही प्रचलित जिन्हें किसी भी वर्ग का व्यक्ति धारण कर सकता है। गोसाई शैव भक्त होते थे और वैरागी वैष्णव होते थे। मराठा समाज में वैरागियों की अपेक्षा गोसाईयों की संख्या अधिक है। गोसाई के वस्त्र नारंगी रंग के होते हैं यह रंग महादेव का प्रतीक है यह समाज के सभी कार्य कर सकते हैं। कुछ गोसाईं ऐसे भी हैं जो कपड़े नहीं पहनते हैं वे शैव कहे जाते थे। लेकिन जो बाल, दाढ़ी और नाख़ून नहीं कटाते वे पवित्र समझे जाते थे। कुछ वैरागी शूद्र है जिनका मुख्य काम कृषि था। मराठा समाज में स्त्रियों की स्थिति अन्य जगहों से बेहतर है वह अपनी पति की दासी नहीं बल्कि संगिनी होती हैं। मराठी स्त्रियाँ भी पर्दा करती थी और अपने पति की मृत्यु के बाद सती हो जाती लेकिन बच्चों के पालन पोषण के लिए वह सती नहीं भी होती थी और परिवार को चलाने के लिए घरों से बहार निकलकर काम करती थी। "मराठों का विश्वास है कि ब्रह्म स्वयं कर्ता नहीं है। ब्रह्म से प्रकृति, ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति हुई है। सावित्री, लक्ष्मी और पार्वती क्रमश: उनकी पत्नियाँ है। ब्रह्मा ने संसार की रचना की है। उसने मनुष्यों की सृष्टि की है और स्वयं भी अवतार लिया है। वह देव तथा दैत्यों का पिता है। इंद्र देवों का ईश है और बलि दैत्यों का। विष्णु और शिव तथा उनकी पत्नियों ने भी अवतार ग्रहण किए हैं और अपने जन्म लेने के उद्देश्य की पूर्ति के हेतु अनेक-अनेक रूप धारण किए है ब्रह्मा, विष्णु और महादेव के तैतीस करोड़ देव हैं।"[7]

मराठी समाज हिंदू धर्म की मान्यताओं में विश्वास करता है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश को सृष्टि का संचालक मानता है। इसी के साथ-साथ प्रत्येक समाज के अपने-अपने एक कुलदेवता भी होते हैं। जिसकी वह किसी भी कार्य को करने से पूर्व उसकी पूजा-अर्चना करता है। मराठी समाज अंधविश्वासी और ज्योतिष चमत्कार और भविष्यवाणियों में भी विश्वास करता है। जादू-टोना और अलौकिक बातों में जनता का पूर्ण विश्वास भी है। ब्राह्मण समाज में जो शिक्षक होता था उसे उपाध्याय या गुरु कहा जाता है। उपाध्याय वंशागत शिक्षक होते हैं और गुरु किसी व्यक्ति का। इस समाज में यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात है कि यह अपना गुरु किसी न किसी नामी व्यक्ति को मानते हैं। ईश्वर और व्यक्ति के बीच के मध्यस्थ का काम गुरु करता है जिसे या महापुरुष भी कहते हैं, कभी-कभी यह मुसलमान भी होते हैं।

"मराठी में साधारण लिखना, पढ़ना और हिसाब के अतिरिक्त शिक्षा के ब्राह्मणों तक ही सीमित है जो संस्कृत का अध्ययन करते हैं जिसमें उनके धार्मिक-ग्रंथ लिखे हुए हैं। चार वेद, छह शास्त्र और अट्ठारह पुराण मुख्य धार्मिक ग्रंथ हैं जिन पर असंख्य वृत्तियाँ और टिकाएँ है । केवल थोड़े से ही मराठा ब्राह्मण संस्कृत जानते है। वर्तमान समय में उनकी हिंदू शास्त्रों तक में भी अच्छी गति नहीं है।"[8]

## 4.2 साहित्य का समाजशास्त्र और मराठी दलित आत्मकथाएँ:

साहित्य व्यक्ति की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है जिसमें व्यक्ति अपने अनुभव को कला सौंदर्य के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। जिससे व्यक्ति, समाज एवं समुदाय प्रभावित होता है इसलिए साहित्य का समाज से गहरा संबंध होता है। यह दोनों एक दूसरे को प्रभावित करती हैं, कभी रचना, समाज को प्रभावित करती है तो कभी समाज, रचनाओं को प्रभावित करता है। इसलिए साहित्य का समाज के सभी संस्थाओं से बहुत ही गहरा लगाव होता है। "धर्म, कला और साहित्य समाज की सांस्कृतिक एवं संगठनात्मक उपलब्धियाँ मानी गई हैं। सांस्कृतिक एवं संगठनात्मक उपलब्धियाँ

जीवन को प्रदत्त सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप सजाने, समृद्ध करने एवं व्यवस्था प्रदान करने की मूल माध्यम होती हैं। मनुष्य केवल जीना ही नहीं चाहता वरन अच्छी तरह से भी जीना चाहता है, भरपूर जीना चाहता है, और अपने जीवन के लिए दूसरों को भी जीवित देखना चाहता है। मनुष्य की इसी महत्वाकांक्षा का आकार रूप विभिन्न सामाजिक संस्थाएँ जैसे परिवार, धर्म, कला, साहित्य राज्य आदि हैं।"[9] मनुष्य अपने जीवन को एक बेहतर ढंग से जीना चाहता है जिसके फलस्वरूप परिवार, धर्म, कला, साहित्य, राज्य आदि की स्थापना करता है। जिससे मनुष्य का जीवन बेहतर हो सके साहित्य के माध्यम से मनुष्य अपनी अभिव्यक्ति को व्यक्त करता है। वह अपनी कृति इन में संस्थाओं के विषय में भी कहता है। इन अनुभूतियों के स्वरूप में देखें तो यह पड़ताल करनी पड़ेगी की समाज की सामाजिक संस्थाएँ उस व्यक्ति को किस प्रकार प्रभावित करती हैं। वह व्यक्ति साहित्य की रचना प्रक्रिया में स्वत: अनुभूतियों के आधार पर रचना कर रहा है तो वह किस प्रकार से प्रभावित होकर यह लिख रहा है। "साहित्य भाव की कृति है। कल्पना भाव है और कृति वस्तु। कल्पना का वस्तुगत का प्राकट्य कृति है। कृति का भाव का कथ्य या प्रस्तुति है। कृतिकार अपनी चेतना में उठे तनाव, आंदोलन या बेचैनी को प्रकट करने के लिए सभी संभव माध्यम को अपनाता है। माध्यमों को भिन्नता के कारण वस्तु अथवा कृति का रूप (फार्म) भी भिन्न-भिन्न हो जाता है जिसके कारण राजनीतिक युद्धनीति, वैज्ञानिक प्रयोग, धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि का प्रकटीकरण होता है। इन सब का मूल वह तनाव, आंदोलन या बेचैनी होता है जो किसी प्रबुद्ध चेतना द्वारा प्रकट होने अभिव्यक्त होने के लिए खुद भी बेचैन हो जाता है। यह प्राकट्य कोई राजनीतिक कोई विज्ञान, धर्म, दर्शन या कोई कला, साहित्य आदि के रूप में कर पाता है इस प्राकट्य अपने साथ एक संगठन का निर्माण करता चलता है संगठन भावों का हो अथवा वस्तु का या घटक का लेकिन वह परंपरा के रूप में राजनीतिक धर्म, दर्शन, कला आदि से सम्बद्ध रहता है। इसलिए प्रत्येक कृति एक परम्परा होती है- अपने में और अपने सामाजिक परिवेश की। संगठन परंपरा को दृढ़ता प्रदान करता है और परंपरा संस्था अथवा कार्यप्रणाली का निर्माण करती है। राजनीति, धर्म, दर्शन, कला, साहित्य आदि ऐसी ही

संस्था अथवा कार्य प्रणाली है।"[10] साहित्य के समाजशास्त्र को समझने के लिए साहित्य के स्वरूप को समझना होगा। साहित्य का समाजशास्त्र अनुभववाद, रूपवाद और मनोवैज्ञानिकवाद से अलग है। साहित्य को समझने के लिए आधुनिक युग के आलोचकों ने एक नई दृष्टि प्रदान की है जिसे साहित्य का समाजशास्त्र कहते हैं। जिसमें रचना, रचनाकार और पाठक इन तीनों के विषय में एक विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। साहित्य में समाज की खोज एवं समाज में साहित्य की सत्ता और साहित्यकार की स्थिति की विवेचना करना तथा साहित्य और पाठक के सम्बन्ध का विश्लेषण करना। "साहित्य की समाजशास्त्रीय आलोचना का विकास स्वयं साहित्य में होने वाले नवीन परिवर्तनों से प्रारंभ हुआ। साहित्य के क्षेत्र में अठारहवीं शताब्दी में एक नया आंदोलन तब आरंभ हुआ जब विज्ञान के व्यापक विकास के साथ वस्तुन्मुखी अनुसंधान की प्रक्रिया आरंभ हुई। वैज्ञानिक विकास के पूर्व साहित्यिक आलोचना में नैतिक और धार्मिक आदर्शों का प्राधान्य और उन्हीं के अनुशासन में साहित्य की श्रृष्टि होती थी। इस आदर्शवादी दृष्टि के पश्चिम के अंतिम व्याख्या ही गेल और फिलटे माने गए हैं जिन्होंने साहित्य के सौंदर्य को आत्मतत्व से समन्वित माना है। उनके मतानुसार जीवन के उदात्त पक्षों का निरूपण करना साहित्य का कार्य है परंतु ऐतिहासिक विकास में यह आदर्श जीवन निरपेक्ष तत्वों से मुक्ति की ओर अग्रसर हुआ और सामाजिक परिवर्तन दिन-प्रतिदिन वैज्ञानिक अविष्कारों परंपराओं, और अंधविश्वासों आदि की निस्सारता सिद्ध करने के कारण तेजी से बंधन मुक्त हो रहा था। राजनीतिक और सामाजिक जीवन की व्याख्याएँ बदल रही थी, नए सिद्धांत की स्थापना हो रही थी। समाज में चारों ओर बंधन से मुक्त होने की प्रवृत्ति  बदलती जा रही थी। इस चतुर्दिक सामाजिक स्वतंत्रता पर तेजी से प्रभाव पड़ा और नितांत आदर्शवादी विचारों को त्यागकर स्वच्छंद विचारों के संप्रेषण की प्रवृत्ति साहित्य में बढने लगी। अट्ठारहवी शताब्दी के अंतिम चरण में रीति और आदर्श के विरोध में स्वच्छतावाद रोमैटिज्म नाम का साहित्य आंदोलन किसी परिवर्तन का सूचक था।"[11]

साहित्य पर जो भी अभी तक या विषय उठाता है वह समाज से ही किसी न किसी रूप से जुड़ा हुआ है इसलिए साहित्य और समाज के संबंधों को जानना और समझना बहुत ही आवश्यक है। साहित्य में समाज का स्वरूप में दिखाई देता है साहित्य के माध्यम से समाज में साहित्य की स्थिति एवं साहित्यकार की परिस्थितियों की विवेचना और साहित्य एवं पाठक के संबंधों का विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार साहित्य के समाजशास्त्र का मूल उद्देश्य समाज, पाठक, लेखक एवं उस समय की परिस्थितियाँ ही इनकी मूल विवेचन विश्लेषण में आते हैं। साहित्य समाजशास्त्र को समझने के लिए पाश्चात्य के साहित्य समाजशास्त्रियों की विवेचना समझना आवश्यक है। इपोलित तेन ने साहित्य के समाजशास्त्र पर चिंतन व्यक्त किया। फ्रांसीसी विचारक तेन (1828-93) साहित्य के समाजशास्त्र के प्रवर्तक हैं। तेन से पहले मादाम स्टेल ने अपनी पुस्तक 'सामाजिक संस्थाओं से साहित्य के संबंध पर विचार' (1800) से मानी जाती है। इस पुस्तक में साहित्य के भौतिक आधार, सामाजिक स्थिति और सामाजिक संस्थाओं से उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया पर व्यवस्थित ढंग से विचार हुआ है। इसीलिए कुछ साहित्य के समाजशास्त्री मादाम स्टेल को साहित्य समाजशास्त्र का प्रवर्तन श्रेय देते हैं। तेन ने बादाम स्टेल के विचारों को आगे बढाया और तेन ने साहित्य के समाजशास्त्र पर अपने सिद्धांत व्यक्त किया "तेन को साहित्य के भौतिक आधार और सामाजिक स्वरूप के बारे में कोई संदेह नहीं था। उन्होंने अंग्रेजी साहित्य के इतिहास की भूमिका में लिखा है कि कोई साहित्यिक कृति ना तो एक व्यक्ति की कल्पना की क्रीडा है, ना किसी उत्तेजित मन की भटकती हुई अकेली तरंग। वह समकालीन रीति-रिवाजों का पुनर्लेखन है और एक विशेष प्रकार के मानस की अभिव्यक्ति। हम महान रचनाओं से यह जान सकते हैं कि किसी समय और समाज में मनुष्य कैसे सोचता और अनुभव करता है उसके सामने समस्या थी समाज से साहित्य के संबंध की वस्तुपरक व्याख्या करने की। इस समस्या के समाधान की प्रक्रिया में उनका साहित्य का समाचार से विकसित हुआ। उनके साहित्य के समाजशास्त्र के चार प्रमुख पक्ष हैं- साहित्य के भौतिक सामाजिक मूलाधार की खोज, लेखक के महत्त्व का विश्लेषण, साहित्य में समाज के प्रतिबिंबन की व्याख्या, और साहित्य का पाठक के संबंध।"[12] तेन ने साहित्य के

समाजशास्त्र के स्वरूप की बात की। मनुष्य किसी भी रचना को करने के लिए कल्पना करता है वह समाज से ही विकसित होती है। वह बिना किसी घटना या इतिहास बोध के वह नहीं प्राप्त हो सकती है। साहित्य परंपराओं एवं रीति-रिवाजों का एक तरीके से पुनर्लेखन होता है और दलित आत्मकथाओं में यह तथ्य उभरकर सामने आता है। उस समाज का मनुष्य कैसे सोचता एवं कैसे अनुभव करता है। इन्हें सारी बातों का विश्लेषण ही साहित्य के समाजशास्त्र का विषय। इसलिए कला एवं साहित्य की कृतियों को सामाजिक उत्पादन का क्षेत्र मानते हैं। उन्होंने आगे कहा है "वे कला और साहित्य की कृतियों को सामाजिक उत्पादन मानते हैं इसलिए सबसे पहले उत्पादक पर ध्यान देते हैं और बाद में उत्पादन की परिस्थितियों पर। उनके अनुसार कला मनुष्य की मानसिकता की उपज है। लेकिन उसके वस्तुवादी दृष्टिकोण के सामने यह सवाल आता है कि कला जिस मानसिकता से पैदा होती है, वह मानसिकता कैसे बनती है? इसी सवाल के उत्तर में प्रजाति, परिवेश और युग का उनका प्रसिद्ध सिद्धांत सामने आता है। तेन की समाजशास्त्रीय पद्धति तथ्य (कृति) से चेतना (लेखक) की ओर बढ़ती है और चेतना से उनके निर्माण की परिस्थितियों की ओर।"[13] तेन प्रजाति, परिवेश और युग को साहित्य एवं कला की उत्पत्ति का माध्यम मानते हैं। प्रजाति के अंतर्गत वह व्यक्ति संरचना तथा वंशानुगत विशेषताओं तथा मानसिक क्षमता एवं सामाजिक संरचनाओं की चर्चा करते हैं। और दूसरी महत्त्वपूर्ण चर्चा परिवेश या वातावरण की करते है। परिवेश से उनका आशय प्राकृतिक परिवेश से है लेकिन वह सामाजिक परिवेश को भी इसके अंतर्गत शामिल करते हैं क्योंकि मनुष्य अकेला नहीं होता है उसके चारों प्रकृति होती और वह प्रकृति समाज के रूप में साथ-साथ होती है। जिससे मनुष्य भौतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में घट रही प्रत्येक घटनाओं से प्रभावित होता है। इसके पश्चात् युग पर बात करते है। तेन के अनुसार एक युग में एक प्रधान विचार होता हैं। उनकी एक बौद्धिक संरचना होती है जिससे पूरा समाज उस चिंतन से प्रभावित होता है। हर युग में मनुष्य की एक परिकल्पना एवं अवधारणा होती है। मनुष्य की यही अवधारणा आदर्श का रूप धारण करती है जिससे वह प्रभावित होता है। जो उसके विचार व्यवहार और चिंतन में दिखाई देता है। इस आधार पर कहा

जा सकता है कि वे लेखक की संवेदनशील विचार की शक्ति और सामाजिक अंतर्दृष्टि को महत्व देते हैं। तेन के बाद अन्य आलोचकों ने भी अपने विचार रखे। लेकिन प्लेखानोव ने कहा है कि उनका कोई भी आलोचक इस स्थापना का खंडन नहीं कर सकता है कि कला मनुष्य की मानसिकता की उपज है और मनुष्य की मानसिकता उसकी परिस्थितियों से प्रभावित होती है। इस बात का खंडन किसी भी आलोचक ने नहीं किया। साहित्य के समाजशास्त्र की आलोचनात्मक पद्धति में लावेंथल ने भी मुख्य भूमिका निभाई है। जिन्होंने समाजशास्त्रीय चिंतन और साहित्य पर बात की है। लावेंथल समकालीन लेखकों पर बहुत कम लिखा है। उन्होंने 1980 में प्रकाशित एक साक्षात्कार में कहा था कि "मैं पुराने ढंग का साहित्य-वैज्ञानिक हूं। आज भी आधुनिक साहित्य के बारे में समाजशास्त्रीय बयान देने की हिम्मत नहीं कर पाता। इसके दो कारण हैं। एक तो आधुनिक साहित्य अब भी इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरा है। उसके बारे में अभी यह कहना मुश्किल है कि उसका कौन-सा हिस्सा भविष्य में समाज के बारे में ज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण साबित होगा। दूसरा कारण समाजशास्त्रीय है। मैं साहित्य के समाजशास्त्रीय विवेचन को उसके सौंदर्यबोधीय अनुभव का सहायक मानता हूं। जब आधुनिक युग को जानने के दूसरे तरीके और स्रोत मौजूद हैं, तब समकालीन साहित्य को स्रोत के रूप में क्यों स्वीकार किया जाए? मैं अतीत की महान रचनाओं की ओर इसलिए जाता हूं कि उस काल को जानने का साहित्य को सर्वोत्तम स्रोत मानता हूं।"[14] लावेंथल ने साहित्य को अतीत की घटनाओं को स्रोत के रूप में देखा और उन्हीं आधारों पर उनका मूल्यांकन करने की बात की। वह समकालीन रचनाओं कम बात करते हैं क्योंकि उनका मानना है कि भविष्य में समकालीन रचनाओं विज्ञान की दृष्टि कितनी महत्त्वपूर्ण होगी यह कह पाना अभी निश्चित नहीं है। साहित्य की सामाजिकता का विश्लेषण ही उनका लक्ष्य है। "उनकी दृष्टि के मूल में साहित्य की ऐसी धारणा है जो उनके सामाजिक स्वरूप की ओर संकेत करते हैं। वे मानते है कि साहित्य वैयक्तिक अनुभवों का ऐतिहासिक भंडार है। उसमें प्रेम और प्रकृति की नितांत निजी अनुभूतियां होती हैं, लेकिन वे भी सामाजिक संदर्भ से प्रभावित होते हैं। यही कलात्मक कल्पना की विशिष्टता है। साहित्य से हमें यह मालूम होता है कि किसी युग में जीवन का

अनुभव कैसा था। वे साहित्य में यथार्थ के चित्रण की तुलना में यथार्थ की अनुभूति और उसके प्रति दृष्टि को अधिक महत्व देते हैं, इसलिए वे यथार्थ चित्रण से अधिक लेखक या रचना की सामाजिक चेतना का विश्लेषण करते हैं।"[15] इनके अनुसार साहित्य व्यक्ति के साथ-साथ सामाजिक एवं ऐतिहासिक भी होते हैं। लेखक अपने समय के ऐतिहासिक स्थितियों का समर्थन एवं विरोध करता है। वह तटस्थ रहकर ही रचना नहीं करता है। लावेंथल ने वाल्टर बेंजमिन के मत का विरोध किया है कि इतिहास में हमेशा विजेताओं की आवाज मुखरित होती है। उनकी राय में बेंजमिन का यह कथन साहित्य के बारे में सही नहीं है, क्योंकि सच्ची कला में प्राय पराजितो की आवाज और उनकी विषय की आकांक्षा व्यक्त होती है, उनके अनुसार अच्छा साहित्य वही है जिसमें सामाजिक, ऐतिहासिक, अनुभवों की गहरी अभिव्यक्ति होती है मानवीय दशाओं के बारे में अंतर्दृष्टि देने की क्षमता होती है।

लूसिएं गोल्डमान ने भी संरचनाओं के माध्यम से साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन व्यक्त किया। साहित्य के समाजशास्त्री की दृष्टि से उनकी दो महत्त्वपूर्ण कृति प्रकाशित हुई। 'आधुनिक युग में सांस्कृतिक सृजन' (1916) और 'साहित्य के समाजशास्त्र की पद्धति' (1980) गोल्डमान केवल साहित्य के समाजशास्त्री ही नहीं है वे दर्शन, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के विषयों में भी अच्छी पकड़ रखते हैं। साहित्य कृति को लेखक की रचना होने के साथ-साथ समाज के अनुभव एवं विचारों को अभिव्यक्त करती है। वह विचार एवं अनुभव दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार एवं चिंतन से प्रभावित होता है। जिससे अभिव्यक्ति का एक माध्यम बनता है और वह देश विश्वदृष्टि की सहभागी होता है। "गोल्डमान के अनुसार विश्वदृष्टि सामाजिक वर्ग के जीवन में निहित होती है, लेकिन वह दर्शन, कला और साहित्य में व्यक्त होती है। इसलिए विश्वदृष्टि की खोज का आरंभ कृति के अध्ययन से होता है न कि वर्ग के अध्ययन से। लेकिन कृति की विश्वदृष्टि की प्रमाणिकता की पहचान के लिए वर्ग के जीवन में निहित विश्वदृष्टि की खोज आवश्यक है। गोल्डमान इस उद्देश्य को सामाजिक वर्ग की ऐतिहासिक स्थितियों से संबंध मानते हैं, लेकिन वे उसे विचारधारा या वर्गचेतना नहीं कहते। विचारधारा को छदम में चेतना मानते हैं इसलिए उससे विश्वदृष्टि को अलग रखते हैं।"[16] गोल्डमान समाज और साहित्य के

बीच संबंध की खोज अंतर्वस्तु के स्तर पर नहीं करते हैं। वह साहित्यिक कृति का संरचनात्मक विश्लेषण करते हैं। वह किसी भी कृत्य की समग्रता के विश्लेषण में विश्वास करते हैं। कृति के किसी एक पक्ष के बोध से उसकी समग्रता का बोध अधिक महत्त्वपूर्ण है।

"गोल्डमैन के सामने साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की दो पद्धतियां थीं- अनुभववादी और आलोचनात्मक समाजशास्त्रीय। अनुभववादी की अंतर्वस्तु का विवेचन करते थे और आलोचनात्मक समाजशास्त्री कृति के भीतरी संसार की अंतर्यामी मीमांसा। गोल्डमान ने समग्रता की धारणा के सहारे दोनों का विरोध किया और कृति के विभिन्न पक्षों के वर्णन, उनकी आंतरिकता के बोध और इतिहास-प्रक्रिया से उसके संबंध की व्याख्या को महत्व दिया। गोल्डमान ने बार-बार कृति के बोध और व्याख्या में अंतर किया। उन्होंने लिखा है कि बोध की प्रक्रिया का संबंध कृति की आंतरिक संगति से है। उसमें कृति के केवल पाठ के भीतर की सर्वव्यापी सार्थक संरचनाओं की पहचान होती है। व्याख्या के अंतर्गत कृति की विश्वदृष्टि की खोज और इतिहास प्रक्रिया से उसके संबंध का विवेचन होता है।"[17] गोल्डमान साहित्य की समग्रता पर विशेष जोर दिया। अनुभव अधिकृत की अंतर्वस्तु का विवेचन करते हैं जबकि आलोचना उस कृति की भीतरी मीमांसा करता हैं, उन्होंने कृति के विभिन्न पक्षों के वर्णन और उसकी आंतरिक बोध दोनों की प्रक्रियाओं और उनके संबंधों की व्याख्या को महत्त्व दिया है। वह कृति की व्याख्या पर नहीं उसके बोध पर जो देते हैं।

रेमंड विलियम्स के साहित्य के समाजशास्त्र के विषय में बताया कि संस्कृति और समाज के बीच संबंधों की समस्या तभी सैद्धांतिक समस्या के रूप में सामने आएगी जब संस्कृति और समाज में ऐतिहासिक दृश्य से महत्त्वपूर्ण कुछ परिवर्तन घटित होते हैं। समाज जैसे-जैसे परिवर्तित होता है संस्कृति में भी परिवर्तन दिखाई देता है। इन परिवर्तनों की बात करने वाले यह पहले महत्त्वपूर्ण आलोचक है। इन्होंने 'संस्कृति और समाज' नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि "यहां संस्कृति के एक ऐसे सिद्धांत के विकास का प्रयास है जिसमें जीवन की समग्र पद्धति के विभिन्न तत्वों के बीच संबंध का बोध हो सके। यहां ध्यान देने की बात यह है कि रेमंड विलियम्स संस्कृति को जीवन की

एक समग्र पद्धति के रूप में देखते हैं। उस पुस्तक में उद्योग, लोकतंत्र, वर्ग, कला और संस्कृति जैसे कुछ बीज-शब्दों के अर्थ की विकास प्रक्रिया का इस तरह विवेचन किया गया है कि उससे इन शब्दों के अर्थ के विकास के नक्शे के साथ-साथ समाज के जीवन और चिंतन के विकास का नक्शा भी सामने आ जाता है। इस प्रक्रिया में शब्दों के अर्थ की संरचनाएं सामाजिक जीवन और चिंतन की संरचनाओं द्योतक बन जाती हैं।"[18] विलियम्स ने संस्कृति के विश्लेषण के लिए कहा कि किसी कृति में संस्था का विवेचन करते समय दूसरी कृतियों और संस्थाओं से उसके संबंध का विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण है इसीलिए उनका प्रमुख केंद्र ढांचा और ढांचे की खोज है। उन्होंने संस्कृति के तीन रूपों एवं स्तरों की चर्चा की है। "रेमंड विलियम्स संस्कृति के तीन रूपों और स्तरों की चर्चा की है। सबसे पहले संस्कृति एक जीवंत अनुभव के रूप में होती है। उसका दूसरा रूप दस्तावेज ही होता है जो कलाकृतियों से लेकर अनेक दूसरी वस्तुओं में मौजूद रहता है। संस्कृति का एक तीसरा रूप इन दोनों के संबंध से बनता है जिसे चुनी हुई परंपरा की संस्कृति कहा जा सकता है।"[19] रेमंड विलियम्स के संस्कृति और समाज की खोज के जीवन तुलनात्मक संबंध की व्याख्या में केंद्रीय धारणा अनुभूत की संरचना। अनुभूत की संरचना की धारणा का उपयोग उन्होंने संस्कृति और समाज नामक पुस्तक में किया है लेकिन उसकी व्यवस्थित और विस्तृत व्याख्या लंबी क्रांति पुस्तक में की है। "हम एक काल के अध्ययन में उस काल के भौतिक जीवन, सामाजिक संगठन और एक सीमा तक प्रधान विचारों को भी कमोवेश सही ढंग से पुननिर्मित कर सकते हैं। यहां इस बात पर बहस करना जरूरी नहीं है कि इसमें से कोई एक तत्व सारी स्थिति को निर्धारित करता है या नहीं। नाटक जैसे महत्त्वपूर्ण साहित रूप में इन सभी तत्वों से कुछ-न-कुछ लेकर अपना रूप-रंग निखारने की क्षमता है। इन तत्वों से निर्मित समग्रता के किसी एक हिस्से से किसी कलाकृति को जोड़कर देखना उपयोगी हो सकता है। लेकिन अनुभव यही बताता है कि विश्लेषण के दौरान इस समग्रता के सभी तत्वों से कला का संबंध खोज लेने पर भी उसमें ऐसा कुछ बच जाता है जिसका बाहर की किसी चीज से संबंध जोड़ पाना मुश्किल होता है। इसी को मैं एक कला की अनुभूत की संरचना कहता हूं जिसे किसी कलाकृति को समग्रता में अनुभव

करके ही जाना जा सकता है।"[20] संरचना जहाँ सुनिश्चित रूप का बोधक होता है वही अनुभूति कला के अनुभव पक्ष की ओर संकेत करती है। एक तरह से अनुभूति इस संरचना को एक कला की संस्कृति भी कहा जा सकता है क्योंकि कला में ही अनुभव की संरचना पाई जाती है इसलिए किसी काल के समाज को जानने में कला बहुत ही महत्त्वपूर्ण साबित होती है। दूसरे लोग साहित्य विशेषण में समाज से वैयक्तिक को अलग करते हैं फिर रचना की व्याख्या में व्यक्तित्व की उपेक्षा करते हैं। रेमंड अनुभूत की संरचना में रचना के व्यक्तिगत जीवन और अनुभव पक्षों की ओर संकेत करते हैं। किसी रचना में अनुभव और अनुभूति के स्तर पर भी व्यक्ति अधिक प्रकट होता है। विचार के स्तर पर नहीं इसलिए भी विचार से अधिक अनुभव की बात करते हैं।

साहित्य की रचना करना यह अनुभवजन्य एवं कल्पना प्रधान दोनों होता है। किसी भी घटना का विवरण अगर करते हैं तो वह यथार्थवादी रूप उसमें दिखाई देता है और वह समाज केंद्रित होता है। साहित्य में कुछ रचनाएँ कल्पना प्रधान होती हैं जो कि व्यक्ति के अनुभव के आधार पर कल्पनाएँ विकसित होती हैं। आलोचकों ने कहा कि किसी भी कृति की कल्पना में समाज में घटित हो रहे कार्यों का अंश उस कृति में दिखाई देता है। इसलिए रचना, रचनाकार और समाज इन तीनों को साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए मुख्य माना गया है।

साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा आत्मकथा में अनुभववाद एवं यथार्थवाद के तत्त्व मुख्य है, जिसमें व्यक्ति अपने संपूर्ण जीवन की घटनाओं को बिना किसी अलंकार एवं कल्पना के बिना ही रचनाबद्ध करता है। यह रचना उसके अनुभवजन्य से विकसित होती है और वर्णन यथार्थवादी होता है। आत्मकथा में व्यक्ति, समाज और उस युग की स्थिति को दर्शाया जाता है। "आत्मकथाएं व्यक्तिगत जीवन ही नहीं, सांस्कृतिक यथार्थ का उद्घाटन करती हैं। इनमें समकालीन जीवन को प्रभावित और नियंत्रित करने वाली संस्थाओं जैसे परिवार, जाति, धर्म, राजनीति, कानून, शिक्षा इत्यादि की व्याख्या एवं मूल्यांकन उभरकर सामने आता है जिससे समाज में नई राय बनती है और चेतना का विस्तार होता है। जीवन के दग्ध अनुभवों को आत्मकथा में प्रस्तुत करने के लिए हिम्मत

और संतुलन की अधिक आवश्यकता रहती है। समाज और जीवन के कटु, कटुत्तम व्यवहारों को साहित्यिक सीमाओं में अभिव्यक्त करना चुनौती भरा कार्य है। ऐसी परिस्थितियों में रहते हुए, संघर्ष करते हुए व्यक्ति और समाज आगे बढ़ते हैं।"[21] आत्मकथाएँ व्यक्ति के सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन के साथ-साथ उनके सामाजिक संस्थाओं से संबंधों को भी बताती है। जिससे साहित्य के समाजशास्त्रीय मानव के आधार पर उनके विवेचन एवं मूल्यांकन में सुलभता होती है। हिंदी साहित्य में कई आत्मकथाओं की रचना हुई जिसमें सामाजिक जीवन या परिवेश को महत्त्व नहीं दिया गया वह रचनाकार की घटनाओं तक ही सीमित रही लेकिन दलित आत्मकथाओं में व्यक्ति अपने साथ-साथ पूरी सामाजिक संरचना या परिवेश की बात करता है और भारतीय सामाजिक व्यवस्था को उजागर करता है। "आत्मकथाएँ सामान्यत: व्यक्ति केंद्रित होती हैं, किंतु दलित आत्मकथाएँ व्यक्ति के साथ जाति पर भी विशेष रूप से केंद्रित हैं। यही कारण है कि इन दलित आत्मकथाओं की विषयवस्तु की परिधि में मात्र दलित लेखक का ही जीवन नहीं आता तो संपूर्ण दलित समुदाय आता है। ये आत्मकथाएँ व्यक्तिवाचक के साथ-साथ जातिवाचक बन जाती है। इनके विषय विशिष्ट दलित समुदाय से संबंधित हैं। कहीं ये भटकने वाले बंजारा समूह की कथा है तो कहीं चमार, जाटव या फिर वाल्मीकि जाति की। समाज द्वारा उपेक्षित एवं प्रताड़ित इन अछूत जातियों को मिला दर्द एवं अपमान सब में एक जैसा है।"[22] दलित आत्मकथा में भारतीय समाज की सामाजिक संरचना के जो अंतिम पायदान पर व्यक्ति है जिसका अभी तक समाज में उत्पीडन एवं शोषण हो रहा था और उसको सामाजिक, राजनैतिक, अधिकारों से वंचित किया गया था। वह अपने ऊपर किये गए शोषण और अत्याचारों की बात को लिपिबद्ध कर रहा है। जिससे सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन किया जा सके और दलित समाज को सामाजिक प्रतिष्ठा और मूलभूत सुविधावों को भोग सके। "करोड़ों लोगों को ही हिंदुत्वी विरासत के ऐसे व्यवहारों पर कदम-कदम पर सामना करना पड़ा है जो व्यक्ति को व्यक्ति के रूप में स्वीकृति देने की अपेक्षा उनकी जातीयता और धर्म की नाम-पहचान के आधार पर सांप्रदायिक जहर फैलाते रहते हैं। कामकाजी समाज में जातीय काम-धंधे बेगारी के द्योतक बने हुए हैं

और इनमें अस्वच्छता और कुपोषण की भरमार है। अंधविश्वास और पाखंड व्यवहारों ने दिन दौगुनी, रात चौगुनी गति से अज्ञानता का विस्तार किया है। धर्म और समाज द्वारा पोषित संरचना से पित्तसत्ता का रोग हटाने और मिटाने की जरूरत है ताकि करोड़ों स्त्रियों को शिक्षा, स्वाभिमान और न्यायपरक जीवन मिल सके।"[23] दलित आत्मकथा सदियों से चली आ रही व्यवस्था और व्यक्तियों को व्यक्ति न समझ कर जाति एवं धर्म के वर्गीय विभाजन से उनकी पहचान करना और मजदूरी एवं बेगारी के लिए मजबूर करना अंधविश्वास एवं पाखंड का दलित समाज में घर कर लेना तथा समाज द्वारा पोषित पित्रसत्ता एवं जातिसत्ता के स्वरूप का विस्तृत उल्लेख करना आत्मकथाओं की प्राथमिकता रही है। आत्मकथाओं ने अभी तक मुख्यधारा से दूर समाज को केंद्रीय पटल पर प्रस्तुत किया है। "जहाँ तक आत्मकथा लिखने का सवाल है, उन कथाकारों की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों की पड़ताल करना जरूरी है हिंदी क्षेत्र में हम लाख कहे कि यहाँ डॉ.. अंबेडकर का आंदोलन फला-फूला है, पर हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हिंदी भाषी दलितों के मन-मस्तिष्क पर गाँधी भी उसी तरह से छाए रहे हैं। सतही राजनीतिक नारों की बात छोड़ दीजिए। हिंदी के दलित परिवार अभी भी सनातनी मूल्यों को कहाँ छोड़ पाए हैं! कितना भी दलित मराठी साहित्य हिंदी में छपकर क्यों ना आ गया हो, पर वस्तुस्थिति में परिवर्तन अभी भी बहुत कम हुआ है। जिन मराठी दलित कथाकारों ने हिंदुओं के देवी-देवताओं को कभी का अपने घरों से निकाल कर बाहर फेंक दिया है, उन्हीं को उठाकर बाहर निकालने में अभी तक भी हिंदी के दलित कथाकार हिचकिचा रहे हैं। वे अपने ही भीतर के सामाजिक तथा धार्मिक संघर्षों से जूझ रहे हैं। क्यों?"[24] साहित्य का समाजशास्त्र रचना, रचनाकार और उसके समय को देखने की बात करता है। जिसमें वह रचनाकार की मन:स्थिति और रचना के विषय में संपूर्ण जानकारी प्राप्त करता है और उसका मूल्यांकन उस समय परिस्थिति के आधार पर करता है जिन परिस्थितियों में यह रचनाएं रची गई। दलित आत्मकथाएँ साहित्य के समाजशास्त्रीय अवधारणाओं पर खरी उतरती हैं और रचना, रचनाकार और उस समय घटित हो रही घटनाओं का संपूर्ण विवरण देती हैं। यह अनुभवजन्य और यथार्थवाद पर आधारित होती हैं। "आत्मकथा मराठी

समाज में व्याप्त विद्रूपताओं का वर्णन करते हुए दलित समाज की सामाजिक- सांस्कृतिक स्थितियों का सहज अंकन करती है तथा लेखक के अनुभवपरक गहन पीड़ादायक प्रसंगों का दस्तावेज है। दया पवार ने दलितों के सामूहिक मानसिकता का प्रतिनिधित्व करते हुए उसमें व्याप्त जातीय हीनता, अशिक्षा, बेरोजगारी, परंपरागत व्यवसायों के त्याग, संस्कृतिक बोध तथा पारिवारिक संबंधों के तनाव को विस्तार दिया है। यही नहीं, आत्मकथा में दलित समाज की उन बुरी आदतों को भी उद्घाटित किया गया है, जिनके कारण परिवार चौपट हुए हैं। लेखक के मन में बचपन से कुलबुलाती जातिवादी घटनाओं के प्रकरण, उच्च जातियों के व्यवहारों के पीछे छिपी घृणा, कालिमा और अमानवीयता जहां कथानक को बल प्रदान करते हैं, वहीं तथाकथित शिष्ट समाज के बेदाग प्रतीत होने वाले चेहरे से पर्दा उठाते हैं।"[25] मराठी दलित आत्मकथाएँ समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक स्थितियों को दर्शाती और यह लेखक के अनुभवों के प्रसंगों का दस्तावेज के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। आत्मकथाएँ समाज के सांस्कृतिक ताने-बाने को प्रस्तुत करती हैं। जो अभी तक नेपथ्य में दिखाई दे रहा था। दलित आत्मकथाओं में कल्पना के बिंदु नहीं दिखाई देते है वह अनुभव और यथार्थ पर ही आधारित है इसलिए साहित्य के समाजशास्त्र की पद्धति के आधार पर इसका विश्लेषण किया जाता है। "इन आत्मकथाओं के द्वारा लेखकों ने स्वयं का ही नहीं वरन अनेक पीढ़ियों से उपेक्षित दारिद्र्य एवं दासता से जकड़ी हुई अछूत जाति का चित्रण किया है। अस्पृश्यता के भयानक अनुभवों से गुजरते हुए 'अछूत' होने की सजा भुगती है। यह आत्मकथा नरकीय जीवन से जीने को अभिशप्त, मृत पशुओं के मांस को खाने के लिए विवश, नंगे भूखे, दुत्कार गए बेबस मानव की आत्माओं को दर्शाती हैं।"[26] दलित आत्मकथाएँ भारतीय समाज के एक ऐसे वर्ग को सामने लाती हैं जो सदियों से शोषित पीड़ित और वंचित रहा है अब वह साहित्य के माध्यम से अपनी बात कह रहा है और अपने अधिकारों और कर्तव्यों की बात कर रहा है। दलित आत्मकथाएँ साहित्य के समाजशास्त्र के मूल्यांकन के लिए उपयुक्त विधा हैं। जिसमें वह व्यक्ति, रचना और रचनाकार के साथ-साथ उसकी सामाजिक पारिवारिक सांस्कृतिक परिस्थितियों की जानकारी देता है और वह सदियों से चली आ रही इस सामाजिक

व्यवस्था को तोड़ने और एक बेहतर समाज के निर्माण में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करना चाहता है। "दलित आत्मकथन दलित समाज के विविध आयामों को अपने में समेटकर उसके हर एक पहलू पर एक समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करके सामाजिक अंत:संबंधों की पड़ताल करता हुआ नजर आता है। इसलिए वे केवल व्यक्तिगत अनुभवों की  अभिव्यक्ति नहीं हैं, बल्कि दमित, दलित समाज के अनुभवों की अभिव्यक्ति है। दलित समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक सरोकारों को ये आत्मकथन उजागर करते हैं।"[27]

मराठी दलित आत्मकथाएँ व्यक्ति के साथ-साथ समाज में आ रहे परिवर्तनों और एक समुदाय का दूसरे समुदाय के प्रति व्यवहार एवं व्यक्ति का समाज के प्रति नजरिया लेखक के माध्यम से आत्मकथा में देखने को मिलता है। आत्मकथा लेखन का मुख्य उद्देश्य समाज में आ रही विसंगतियां को उजागर करना है, और कई वर्षों से चली आ रही परंपरा एवं रूढ़ियों को तोड़कर एक समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना है। "दलित लेखन और आंदोलन के परिप्रेक्ष्य में किसी आत्मकथाकार को (सहूलियत के लिए) समुदाय विशेष के प्रतिनिधि के रूप में देखा-पढ़ा जाता है। और यह निराधार भी नहीं है। पर अंततः कोई आत्मकथा किसी व्यक्ति की रचना होती है और उस रचना की अच्छाई-बुराई का श्रेय-कुश्रेय लेखक को ही मिलता है। व्यक्ति और समुदाय के इस बात को याद रखना चाहिए। अपनी आत्मकथा में दया पवार महार समुदाय (जिसमें पैदा हुए) से नाभिनालबद्धता की बात करते हैं। अपने समुदाय से संपृक्त की उनकी आकांक्षा और कोशिश पर संदेह नहीं किया जा सकता। पर समय के साथ अपने समुदाय से बढ़ती दूरी को भी स्वीकार करते हैं। अकेलेपन की यह व्यथा 'अछूत' में बार-बार व्यक्त हुई है। यह व्यथा जितनी वास्तविक है उतनी मार्मिक।"[28] मराठी दलित आत्मकथा का शिक्षा एवं संपन्नता प्राप्त कर लेने के बाद अपने सामाजिक समुदाय के साथ संबंध से दूरी की बात करते हैं क्योंकि वह उस समुदाय विशेष का अंग पुनः नहीं बनना चाहते जिसमें अमानवीय एवं शोषण भरा पड़ा हो। उसकी ऐसी इच्छा है कि समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति अपने अधिकार एवं महत्त्व को समझें और उस अमानवीय व्यवस्था से दूर हो। दलित समाज के लोग जब उच्च पद प्राप्त कर लेते है

तो अपने पुराने अस्तित्व को छुपाते है और एक नया एवं  बनावटी अस्तित्व प्रस्तुत करते है, जिससे वह अपने मूल समाज से तो कट ही जाते है और उच्च वर्ग के लोग भी उसे सहजता से स्वीकार नहीं करते है इसलिए वह अपने आप को अकेला महसूस करते है। "इस बारे में वह वरिष्ठ दलित कथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि का भी लगभग ऐसा ही मानना है। उनके अनुसार अपने अनुभवों को लिखने के लिए लेखक को अनेक खतरों के बीच से गुजरना पड़ता है। उन्हें अपने 'आत्मकथ्य' को विस्तार देने के लिए कई साल लग गए। उन्होंने बताया कि लंबी जद्दोजहद के बाद जब सिलसिलेवार लिखना शुरू किया तो उन तमाम कष्टों, यातनाओं प्रताड़नाओं को एक बार फिर जीना पड़ा। उस दौरान गहरी मानसिक यंत्रणाएँ उन्होंने भोगी। स्वयं को परत-दर-परत उधेड़ती हुए कई बार लगा- कितना दुखदायी है यह सब। कुछ लोगों को यह अविश्वसनीय और अतिरंजनापूर्ण लगता है। कई मित्र हैरान थे, अभी से आत्मकथा लिख रहे हो। कुछ ने लिखा-आत्मकथा लिखकर आप अपनी प्रतिष्ठा ना खो दें।"[29] दलित आत्मकथा ने अपने समय एवं समाज को व्यक्त किया है। जिसमें उन्होंने अपने संपूर्ण जीवन की घटना को सिलसिलेवार ढंग से वर्णित किया है। साहित्य के समाजशास्त्र की अवधारणाओं को देखें तो दलित आत्मकथाओं में उसके स्वरूप दिखाई देते हैं। जिसमें व्यक्ति, समाज और समाज का व्यक्ति से संबंध एवं कृति के लिखे जाने के कारणों का भी जिक्र रचनाकार अपनी रचना शुरू करने से पूर्व भूमिका में स्पष्ट करते हैं। "सुपरिचित मराठी दलित लेखक उर्मिला पवार की आत्मकथा के एक अंश (बचपन का हिस्सा) पर टिप्पणी करते हुए उमा चक्रवर्ती ने लिखा है कि उर्मिला अपनी माँ के साथ अपने रिश्ते को हृदयस्पर्शी ढंग से इसलिए प्रस्तुत कर सकी क्योंकि उन्होंने अपने को अतीत के प्रेत से मुक्त कर लिया है। 'अतीत के प्रेत' से मुक्त के बीच की बात विचारणीय है। अतीत के प्रेत से ग्रस्त व्यक्ति या तो अतीत को फार्मूले की तरह इस्तेमाल करता हुआ उसमें अपने को, और अपने अनुभव को विलीन कर देता है, एक नए अर्थ है 'पुरातन पंथी' बन जाता है या फिर अतीत को भरसक भुलाने की विफल कोशिश करता रहता है ऐसे व्यक्ति के द्वारा अतीत की प्रेरक पुनर्रचना संभव नहीं होती।"[30] मराठी दलित आत्मकथाएँ लेखक के अतीत का वर्णन है। लेकिन रचनाकारों ने अपने जीवन का

वर्णन करते समय बहुत ही सावधानी बरतनी पड़ती है क्योंकि वह उससे कल्पना का पुट नहीं दे सकता है। उसमें वह अपने भोगे हुए यथार्थ जीवन की घटना को लिखते हैं। अतः उनकी रचना को पुरातनपंथी कहना यथोचित नहीं होगा यह रचनाएँ समाज में घटित हो रही घटनाओं की दस्तावेज है। आज भी अगर महाराष्ट्र या उत्तर भारत या पूरे भारतीय सामाजिक संरचना में देखें तो कहीं न कहीं घटनाएँ घटित होती दिखाई देती हैं अतः यह अतीत के यथार्थ को सम्पूर्ण वर्णन को दर्शाती हैं। "मराठी के ही श्रेष्ठ आत्मकथाकार दया पवार ने बताया है, 'कि मैंने भी भूतकाल को पूरी तरह भूल जाने की कोशिश की। पर क्या इतनी सहजता से भूतकाल पोछा जा सकता है? कुछ दलितों को यह कूड़ा-करकट बाहर उलीचने जैसा लगता है। परंतु आदमी यदि अपना भूतकाल नहीं जानता तो अपना भविष्य भी तय नहीं कर सकता। अतीत की ओर लौटना अतीत का होकर नहीं रह जाना है। वर्तमान को समझने, भविष्य की रूपरेखा बनाने के लिए अतीत अनिवार्य संदर्भ है।"[31]

## 4.3 मराठी दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय विश्लेषण:

साहित्य के समाजशास्त्र के विश्लेषण के लिए आलोचक कृति में लेखक, परिवेश एवं सामाजिक स्थिति का विश्लेषण करता है, क्योंकि किसी भी रचना को रचने से पूर्व लेखक के मन में समाज से ही उत्पन्न हो रहे प्रश्न विचार के रूप में आते है इसलिए आत्मकथा लेखन में भी लेखक के मन में उत्पन्न हो रहे सामाजिक, धार्मिक स्थितियों को देखकर ही रचना करने का भाव उत्पन्न होता है। अत: आत्मकथा में लेखक अपने समाज, धार्मिक, राजनीतिक स्थितियों का अनुभव और स्मृति यथार्थ के आधार पर चिंतन करता है।

शरणकुमार लिम्बाले अपने विषय में बताते है कि "मेरा बचपन मुझे अभी भी याद है। मेरे गाँव में प्रतिवर्ष सावन के महीने में पोथी-पुराण बाँचे जाते। हर साल मेले के बहाने धार्मिक नाटक किये जाते। मेरे काका यशवंतराव पाटील सवर्ण और फिर गाँव के मुखिया। वह मुझे रामायण-महाभारत की कहानियाँ सुनाते। पढ़ने के लिए धार्मिक ग्रंथ लाकर देते। मेरे नाना महमूद दस्तगीर जमादार और वह

मुसलमान। वे मुझे जादू की, भूत-प्रेत की, राजकुमारों की कहानियाँ सुनाते। मेरी दादी भी मुझे ऐसी कहानियाँ सुनाती। मेरे जो मित्र थे- मारत्या और इल्या- उनकी दुनिया ही अलग थी। 'बड़ा इंद्रजाल' पढ़ते। मोहनी मंत्र की साधना पर लड़कियों को पटाना उनका लक्ष्य था। तो यह हुआ मेरे आस-पास का परिवेश।"[32] दलित रचनाकारों ने अपने समाज की स्थिति एवं अपने परिवेश को प्रस्तुत किया है। जैसे पूरी घटना हमारे सामने घटित हो रही हो और उनकी रचनाओं में अनुभव, यथार्थ के गुण होने के कारण वह एकदम सजीव जान पड़ती हैं। आज भी अगर किसी गाँव, कस्बा या नगर का भ्रमण करें तो ऐसी ही बिम्ब देखने को मिल जायेगें। "आत्मकथा में बीते जीवन के अनुभव व्यस्त होते हैं। ये अनुभव विशुद्ध और अकृत्रिम नहीं होते। यह बीते जीवन-प्रसंगों की यादें होती हैं। ये यादों के पक्षी होते हैं। ये पंछी जब कागज पर उतरने लगते हैं, तब उस लेखक की उस समय की मानसिकता, वृत्ति-प्रवृत्ति, प्रतिभा, लेखन-शैली, जीवन-दृष्टिकोण उस बीते अनुभव में घुल-मिल जाते हैं। घुल-मिलकर ही वे बीते अनुभव व्यक्त होते हैं। लेखक गंभीर वृत्ति का है कि विनोदी, वृद्ध है कि युवक, जीवनवादी है कि कलावादी- इस पर उसकी अभिव्यक्ति का स्वरूप आधारित होता है। आत्मकथा में व्यक्त अनुभव की यादें होती हैं। इसी कारण इसे हम 'साहित्य में व्यक्ति यथार्थ' कहें। जीवन की वास्तविकता से अपना नाता बतलाते हुए भी वे उससे कुछ दूरी रखते हैं।"[33] आत्मकथा अनुभव के आधार पर व्यक्त की जाती हैं यह अनुभव कृत्रिम नहीं होता। यह जीवन प्रसंगों के यादों की कहानियां होती हैं। आत्मकथा व्यक्त अनुभव के अलावा अनुभव की यादें होती हैं जिनको यथार्थ के पैमाने पर देखें तो यह व्यक्त यथार्थ के रूप में पाठकों के सामने आती हैं। दलित समाज की कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो अपराधिक प्रवृत्ति को परंपरागत रूप से आगे बढ़ा रहे हैं। लक्ष्मण गायकवाड ने अपनी आत्मकथा 'उचक्का' में इसी प्रवृत्ति को दिखाया है। "चोरियाँ कैसे की जाएँ, इसे सिखलाने वाले दल हमारी जाति में होते हैं। अन्य स्थानों पर बच्चों की पढ़ाई के लिए शिक्षक होते हैं। बच्चे ठीक से पढ़ें-लिखें, इसलिए शिक्षक और मां-बाप उसकी पिटाई भी करते हैं। परंतु हम उठाईगीरों में सब कुछ भिन्न है। हमारे यहाँ बच्चों को चोरियाँ सिखलाने के लिए अलग-अलग प्रकार के दल होते हैं। हमारे यहाँ

चोरियों के चार प्रमुख प्रकार किए गए हैं-1. खिस्तंग मतने (जेबकतरे), चप्पल-मुठल (चप्पल अथवा गठरी की चोरी), 2. पड्डा घालने (चतुराई से सामनेवाले को बेवकूफ बनाकर उसका माल ऐठना), 3. उठेवरी (बातचीत करते-करते किसी को फाँसना) इसके प्रशिक्षित शिक्षक भी हैं। यह पढ़ाई पूरी होने के बाद उस लड़के को अपनी पहली छह माह की कमाई अपने शिक्षक को देनी पड़ती है।"[34] भारतीय सामाजिक व्यवस्था में बच्चों को शिक्षा के लिए प्रेरित किया जाता है, जिससे वह पढ़ें और अपने बौद्धिक स्तर को बढ़ा सकें, लेकिन दलित समाज में कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जिनको पढ़ाई के स्थान पर चोरी सिखाई जाती है क्योंकि इस समाज के पास जीविका चलाने के कोई भी साधन नहीं है। इन्हें समाज के अन्य लोग इनकी जाति के कारण अपने यहाँ काम नहीं करने देते है। जाति के कारण ही उन्हें चोर मान लिया जाता है। इसलिए यह जातियाँ मजबूरी में चोरी का कार्य करती हैं। यह अपने आने वाली पीढ़ी को परंपरागत रूप से चोरियाँ सिखाती हैं।

दलित समाज में शिक्षा को लेकर एक आम धारणा बनी हुई थी कि अगर अपने बच्चे को शिक्षित करेंगे तो दैवीय प्रकोप का सामना करना पड़ेगा। यह सभी आत्मकथा में देखने को मिलती है और उचक्का आत्मकथा में इसका उदाहरण (अंधविश्वास) देखने को मिलता है। "तूने अपने लड़के लक्ष्या को स्कूल में भरती कर दिया है, इसी कारण हमारे बच्चों को उल्टियाँ और टट्टी हो रही हैं। इसके पहले आज तक कभी इस बस्ती में हैजे की बीमारी नहीं आई थी। आज तक कभी कोई बीमारी नहीं हुई थी। बस! तेरा यह लड़का लक्ष्या जैसे ही स्कूल में जाने लगा, इधर बीमारी शुरू। देख मार्तंड, (मेरे बाबा का नाम) हम लोग बामन-लाला तो है नहीं कि लड़के से पढ़ाई करवाएँ। हमारी बिरादरी में आज तक क्या कोई स्कूल गया है? तुलसीराम और पांडुरंग कहने लगे, अरे मार्तंड, अपनी जाति में आज तक कोई पढ़ लिख सका है क्या? अपने बच्चे अगर स्कूल जाने लगे, तो हम सभी का वंश डूब जाएगा। यल्लामा देवी का प्रकोप हो जाएगा। देख मार्तंड, हम फिर कहते हैं कि लक्ष्या को स्कूल से निकाल ले। अगर वह फिर से स्कूल गया तो हम जात-पंचायत बिठायेगे और तुझे बहिष्कृत करेंगे।"[35] दलित समाज की आम धारणा बन चुकी थी कि अगर किसी भी बच्चे को स्कूल में अगर भर्ती करा

देंगे तो उनकी कुलदेवी (ग्राम देवी) उनसे नाराज हो जाएंगी। इससे उनके बच्चों और उनके समाज पर एक बहुत ही विनाशकारी प्रभाव पड़ेगा। दलित समाज में बच्चों को अशिक्षित करने के लिए यह भ्रम फैलाए गए थे, और कुछ लोग अपने बच्चों को पढ़ाना चाहते थे लेकिन आर्थिक स्थिति ठीक न होने के कारण वह उनका दाखिला स्कूलों में नहीं करा सकते है। लेकिन ऐसा नहीं है कि सभी सवर्ण जातियाँ या सभी लोग उसका विरोध करते थे गाँव में एकाद लोग ऐसे होते थे जो इसका समर्थन भी करते थे। उचक्का आत्मकथा में लक्ष्मण गायकवाड़ ने बताया कि जब वह विद्यालय में अनुपस्थित रहने लगे तो एक ब्राह्मण शिक्षक ने उनकी अनुपस्थिति का कारण पूछा और लड़के को उनके घर पर भिजवा कर बुलवाया। दलित समाज में अंधविश्वास और भूत-प्रेत को लेकर एक आम धारणा थी और व्यक्ति कोई भी बीमार पड़ता था तो सर्वप्रथम उसे झाड़-फूंक के तरीकों से ठीक करने का प्रयास किया जाता था इसीलिए कई लोगों की मृत्यु भी हो जाती थी।

दलित समाज ने अपनी आजीविका के लिए जो भी काम करते थे उनका उल्लेख अपनी आत्मकथा में किया है। ज्यादातर दलित समाज सवर्णों के यहाँ गुलाम या दास के रूप में कार्य किया करते थे जिससे वह अपने परिवार का पेट भर सके लेकिन सारा दिन काम करने के बाद भी उन्हें भर पेट भोजन नहीं मिलता था। बेबी कांबले ने डोम समाज के विषय में विस्तार पूर्वक बताया है। डोम का मुखिया येसकर होता था जो गाँव के चबूतरे पर बैठ कर के प्रत्येक व्यक्ति को कौन सा कार्य करना यह निर्देशित करता था यह अमुख के यहाँ जाकर काम करना है या कौन-सी गली साफ करनी है। इन सबका निर्धारण येसकर करता था, शाम के समय उन्हें मजदूरी के रूप में सवर्णों के यहाँ से जो भी बांसी रोटी मिलती थी उसका सभी लोगों में बँटवारा किया जाता था। दया पवार ने भी अछूत आत्मकथा में इसका वर्णन किया है। ‘‘येसकर पारी तो कई बार भीख लगती। परंतु उन दिनों गुलामों को गुलामगिरी का एहसास नहीं होता था उसे अधिकार समझते। हर हफ्ते येसकर पारी बदलती। गाँव में मराठा-मंडली के दो जबरदस्त गुट। ठीक महारवाड़ा की तरह। एक कुल के मराठे पवारों को येसकर

पारी बाँटते, तो दूसरे रूपवते को। होली पर महार पहले अंगारे किसे दे, इस समस्या को लेकर गाँव में पापल और आवारी लोगों में भयंकर संघर्ष होता।

रोटी माँगने अक्सर स्त्रियाँ जातीं। जिस घर में स्त्रियाँ न होती, उस घर से कोई बूढ़ा व्यक्ति झोली लेकर जाता। जाते समय वह हाथ में झुनझुने वाली लाठी ले जाना न भूलता।

इस लकड़ी की भी महारों में एक परंपरा है। कोई कहता, इस लकड़ी में पहले झंडा भी होता था। हम राज्य करते थे। युद्ध में हार गए। 'ये लोग यदि संगठित रहेंगे तो बहुत भारी पड़ेंगे। लकड़ियों-सा फाड़ डालो इन्हें। हर गाँव के प्रवेश द्वार पर टाँग दो। उनके झंडे, हथियार छीन लो और गुलामीं की निशानी स्वरूप लाठी थमा दो।' कहते हैं, तब से महारों के हाथ में लाठी आ गई। बाद में मैं पढ़-लिखकर इन बातों का मर्म समझने लगा। एक दिन बाबा साहब की एक किताब पढ़ने को मिला 'शूद्र मूल रूप से कौन थे'। तब इस इतिहास की कुछ कड़ियाँ मुझे जुड़ती नजर आईं।"[36]

मराठी दलित समाज के लोगों के रीति-रिवाज अन्य समाज से अलग थे, पोतराज और गोधवा जैसे कार्यक्रम होते थे, जो केवल दलित समाज के लोग ही मनाते थे। दलित समाज के रीति-रिवाज हिंदू धर्म से अलग थे। इनके यहाँ किसी भी अनुष्ठान में बलि का प्रावधान मिलता है। हिंदू धर्म के त्यौहार भी दलित समाज मानते थे, लेकिन उनकी प्रक्रिया और तिथि में अंतर देखने को मिलता है। "हर गाँव में होली अलग-अलग तिथि को मनाई जाती थी। फागुन की अमावस्या के तीसरे दिन जो होली मानती थी उसे 'तेरसा शिमगा' कहते थे। तेरसा शिमगा मनाने वालों को 'खदरों' की उपमा दी जाती थी क्योंकि वे फागुन महीना लगते ही होली की पुरण पोली (चने की दाल और गुड़ की मीठी रोटी, जो महाराष्ट्र में होली के पारंपरिक पकवान है।) तथा मटन के बड़े खाने की तैयारी करने लगते थे। तेरसा शिमगा की देखा-देखी कुछ गाँवों में आठवें नौवें दिन ही होली जलाने लगी, इसी 'समय की होली' कहा जाता है। इस होली के अलावा पूर्णिमा को मनाई जाने वाली होली सभी के लिए होती थी। इसके बाद भी कुछ गाँवों में होली जलती थी, इसे 'भद्र शिमगा' कहा जाता था। पूनम तक सब

की होली देखकर गरीबों को दुख होता था सो वे सबसे आखिर में अपनी होली जलाकर खुशी जाहिर करते थे। इसके बाद सब भद्र होगा अर्थात भला होगा, ऐसी मान्यता थी।"[37] उर्मिला पवार बताती कि उनके गाँव में तेरसा शिमगा मनाया जाता, सारे लड़के सात-आठ दिन पहले नदी के पास पहाड़ी पर जाकर जंगल की सूखी घास-फूस और टहनियों से चंडकी की देवी की चट्टान को अच्छी तरह ढक देते। होली के दिन बस्ती के सारे बड़े-बूढ़े गाजे-बाजे के साथ पहाड़ी पर जाते और चंडकी देवी की चट्टान को हल्दी, कुमकुम लगाकर नारियल चढ़ाकर पूजा करते हैं। पूजा के उपरांत उस पत्थर को जला दिया जाता और जलाते समय चंडकी देवी से भावी जीवन में सुख समृद्धि प्राप्ति का आवाहन किया जाता। आह्वान के बाद जोर-जोर से चिल्लाकर गंदी गंदी गालियाँ दी जाती और जोर जोर से कूकने की आवाजें निकली जाती जिससे अन्य गाँवों तक सुनाई देता। इस प्रकार वह बताती हैं कि उनके गाँव में इसके बाद अगले दिन पूजा की जाती और फिर होली मनाई जाती।

दलित समाज में शादी-विवाह का कार्यक्रम कहीं-कहीं हिंदू परंपरा के आधार पर किया जाता था। लेकिन बौद्ध समाज के प्रभाव के कारण बौद्ध धर्म से भी विवाह संपन्नहो रहे हैं। "विवाह के अवसर पर गाँव वालों को भोजन के अतिरिक्त और कोई काम नहीं था। श्वेत वस्त्रधारी बौद्ध आचार्य ने विवाह की सामग्री लाने से लेकर विवाह संपन्न करवाने तक, पूरी जिम्मेदारी ली हुई थी। उन्होंने दीवार के पास रखी मेज पर सफेद कपड़ा बिछाकर, उस पर गौतम बुद्ध और डॉ.. अंबेडकर की तस्वीरें रख दी तथा उन्हें फूल के हार पहना दिये। गौतम बुद्ध की तस्वीर पर फूल भी चढ़ाए गये। एक थाल में पाँच मोमबत्तियाँ चिपका कर खड़ी की गयीं। तथा पीतल के गिलास में रखे चावल में अगरबत्तियाँ खोस दी गयी। एक छोटी-सी मटकी के पानी में पीपल की डाली तथा धागे के बंडल का छोर, डुबोकर रखा और फिर वधू के लिए साड़ी भेजने का आदेश दिया। वधू के लिए खरीदी गई सफेद साड़ी, ब्लाउज और हल्दी-कुमकुम लेकर वर की बहनें, भाभियाँ, चाचियाँ आदि वधू के जनवासे में गई।"[38] बौद्ध धर्म में बौद्ध आचार्य वैवाहिक कार्यक्रम संपन्न कराते हैं। वह वर-वधू से 22 प्रतिज्ञाएं कराते हैं और शादी के लिए उस गाँव के सभी सदस्यों से अनुमति माँगते है। इसके उपरांत वर-वधू को मंगलसूत्र पहनता है,

इस प्रकार विवाह संपन्न होता है। दलित समाज में विवाह को लेकर कोई कठोर व्यवस्था नहीं है। इसमें विवाह होने के उपरांत अगर पति या पत्नी अलग होना चाहते है तो दोनों एक दूसरे से अलग हो सकते है। और अन्य व्यक्ति/महिला या अन्य धर्म के व्यक्ति/महिला के साथ विवाह करके या आपसी सहमति से रह सकते है। वर या वधू की मृत्यु के बाद वर किसी भी महिला से शादी कर सकता है और वधू किसी पुरुष से शादी कर सकती है। यह एक आम धारणा दलित समाज में सभी जातियों में पायी जाती है। हिंदू समाज में पुरुष विधुर होकर भी शादी कर सकता है लेकिन महिला के विधवा होने पर कठोर परंपराएं हैं, लेकिन दलित समाज में स्वतंत्र रूप से अपना वर/वधू चुन सकते है, और नए जीवन साथी के साथ जीवन शुरू कर सकते है।

भारतीय समाज में दलितों को अछूत समझा जाता है, उन्हें गाँव की दक्षिण दिशा की ओर बसाया जाता है। किसी भी स्थिति में स्पर्श करने की मनाही होती है अगर रास्ते पर जाते समय सवर्ण मिल जाता तो उन्हें सडक छोड़कर नीचे उतरना होता और उनका अभिवादन करना होता। ऐसा नहीं है कि अछूत की समस्या केवल उच्च जातियों में है। निम्न जातियों में भी उच्चता और निम्नता का बोध है। हर एक जाति अपनी से नीचे उपजाति खोज लेती है और उनके साथ ब्राह्मणवादी व्यवहार करती है। दलित समाज के अंदर भी अछूत की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

"मेरे ससुराल की औरतें, दूसरे ही कारण से आपस में फुसफुसा रही थीं और मुँह बनाती हँस रही थीं। एक कह रही थी कि हरिश्चंद्र को हम 'पानों' के घर लड़की नहीं मिली जो इस 'बेले' की बेटी ब्याह लाया। सिंधुदुर्ग जिले के हमारे समाज में 'पाने' और 'बेले' नामक दो जातियाँ थीं। शिवजी को बेल चढ़ाने वाले 'बेले' और कोई भी पत्ता (पान) चढ़ाने वाले 'पाने' एक कहलाते थे। यहाँ 'बेले' पिछड़े हुए तथा 'पाने' प्रगतिशील समझे जाते थे। हरिश्चंद्र 'पाने' था। रत्नागिरी में ऐसी उपजातियाँ नहीं थी, लेकिन वह सब मुझे 'बेले' का मान कर, आलोचना कर रही थी। सुनकर मुझे हँसी आ रही थी।"[39]

भारत में हिंदू धर्म के साथ-साथ मुस्लिम, बौद्ध, जैन, पारसी, सिख आदि धर्मों के लोग निवास करते हैं। मुख्यतः हिंदू धर्म में ही जातिगत विभेद दिखाई देता है अन्य धर्मों में यह विभेद कम देखने को मिलता है। दलित समाज ने डॉ. भीमराव अंबेडकर के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद बहुत सारे समुदाय ने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। दलित समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा सिक्ख एवं मुस्लिम धर्म स्वीकार करता है लेकिन वहाँ भी दलितों की जाति के कारण भेदभाव होते है। शेष लोग जो न ही बौद्ध हुए, न ही सिक्ख, मुस्लिम वह हिन्दू धर्म में ही रहकर उसको सुधारने की बात करते है। "हम आप लोगों के विरुद्ध कभी नहीं गए। आपने अगर पूजा की है तो हमें भी पूजा ही की, नमाज नहीं पढ़ी। आपने गाय को पूज्य माना, तो हमने भी कभी गाय का निरादर नहीं किया। हमने तमाम हिंदू रीति-रिवाजों को मन से अपनाया। इसके बावजूद आप लोगों की कुदृष्टि हम पर हमेशा बनी रही। हमारे लिए आप की भृकुटी हमेशा बनी रही। आपके घर में रहकर, आपका ही दिया खाने वाले आपके सगे आपके दुश्मन हो गए। लेकिन हम कभी आपके दुश्मन नहीं बने। लेकिन तब भी हम आपको अपना ही मानते आए। आपकी संस्कृति को जीवित रखते आए हम। हमने आपका थूका हुआ भी अपने हाथ पर लिया। आप के प्रति ईमानदार रहे। हमारी सच्ची निष्ठा आप में रही। फिर क्यों हमारे हिस्से में सिर्फ आपकी करना ही आई? आप लोगों ने हमसे कदम-कदम पर बेईमानी की, हर जगह छला लेकिन हमने कभी पलटकर बेईमानी करने की सोची भी नहीं। चोकर-भूसी की रोटी खाई। झोपड़ी को माल समझा। अपने घोर, कारुणिक दारिद्र्य को अपना स्वर्णकाल मानते रहे।"[40] दलित समाज हिंदू समाज की सारी रीति-रिवाज एवं परंपरा  को अपनाता है और अपने पूर्वजों की परंपराएं और धार्मिक त्यौहार को भूला देता है, तब भी दलित समाज के प्रति जो भाव था वह नहीं बदलता है। इसी बात की कुंठा आत्मकथा में देखने को मिलती है कि हमने तो अपना अस्तित्व तक खत्म कर दिया और आपके दिए हुए परंपराओं और रीति-रिवाजों को ओढ़ कर चल रहे हैं फिर भी यह घृणा क्यों?

लक्ष्मण गायकवाड ने अपनी आत्मकथा में मजदूरों के लिए संघर्ष करते हैं। अन्य मिल कर्मचारियों की अपेक्षा इनकी मिल के कर्मचारियों को कम वेतन, सुविधाएं दी जाती थी। जिस कारण मजदूर ब्याज पर पैसे लेते और व्यापारियों पैसे वसूलने के नाम पर उनकी पिटाई भी करते थे। वेतन का ज्यादा हिस्सा ब्याज में ही चला जाता था। सारा दिन मेहनत करने के बाद भी वह अपने परिवार की आर्थिक तंगी को नहीं दूर कर पा रहे थे। "मजदूरों की असुविधाएँ बढ़ने लगीं। वेतन कम और जो वेतन होता उसमें से होटल की चाय का कॉपी भी लेना पड़ता था। रातपाली में नींद न आए, इसलिए मजदूर दो-तीन बार चाय पीते। इधर मैनेजमेंट शोषण करती, उधर होटल का मालिक मजबूरी का फायदा उठाता। मजदूर चाय बहुत पीते। चाय में चीनी के बजाय होटल मालिक सेकरीन डालता। इस कारण बीमारियां होती। बीमारी हो तो मिल का अपना दवाखाना नहीं। सुविधाएं नहीं। वेतन से सारे खर्च चलाना मुश्किल हो जाता था।"[41] मिल में कामकर रहे कर्मचारियों की शारीरिक शोषण और आर्थिक शोषण दोनों हो रहा था। उन्हें कम वेतन दिया जाता था और मूलभूत सुविधाएँ भी नहीं मिलती है। इन सभी मुद्दों को लेकर लक्ष्मण गायकवाड ने एक आंदोलन किया जो कि एक महीने तक चला और उन्होंने अन्य मिलों के मजदूरों के वेतन के समान उनको वेतन और सुविधाओं की मांग की। महीने भर चले आंदोलन के बाद मिल के मैनेजर ने उनकी बातें मानी और इन्हें वेतन और अन्य सुविधाएँ देने का वादा किया। जिससे मिल कर्मचारियों बहुत प्रसन्न हुए।

दलित समाज में भी ब्राह्मणवाद और सामंतवाद के तत्त्व दिखाई देते हैं, यह समाज सबसे निचले पायदान पर रहा है लेकिन शोषण करने के लिए उसने भी अपने जाति में उपजातियाँ और अपने से निम्न जातियाँ खोज ली है, साथ ही साथ पुरुष महिलाओं के साथ पित्तसत्तात्मक जैसा व्यवहार अपने घर, समाज में करता है। "समाज में हमें गुलाम बना कर रखा था लेकिन हम गुलाम भी इंसान ही थे। हमारी भी इच्छा होती कि हम भी किसी पर अपनी हुकूमत चलाएँ, किसी को गुलाम बनाएँ। पर हमारी हुकूमत कौन साइन करता...? इसलिए हमने अपने घर के लोगों को गुलाम बनाने की सोचा। और गुलाम बनाया पराए घर से आई हुई लड़की अर्थात बहू को। सात, आठ, नौ या दस वर्ष

की लड़की को अपने बेटे के साथ  ब्याहकर लाते। पाँच-छह साल की लड़की को तो यह भी पता नहीं चलता कि उसकी शादी भी हुई है या नहीं। शादी यानी कि आठ दिन तक हंगामा।"[42] मराठी समाज में ज्योतिबा फूले ने दलितों के उद्धार के लिए सत्यशोधक समाज की स्थापना की। महिलाओं के लिए सावित्रीबाई फूले के साथ मिलकर उन्होंने कई विद्यालय खोलें। ज्योतिबा ने ब्राह्मणवादी साजिशों के विरुद्ध अपने पूरे जीवन को समर्पित दिया। लेकिन आज भी दलित शोषण के विरुद्ध एकजुट होकर नहीं लड़ते है इसलिए आज भी शोषण का शिकार हो रहे है। "मैं सोचने लगा कि महात्मा ज्योतिबा फूले ने संपूर्ण मानव-जाति पर बहुत बड़ा उपकार किया, अतुलनीय उपकार। परंतु उसी का एक वंशज यहाँ अज्ञान की खाई में पढ़ा था। कहीं पर भी जाइए, जाति जरूरत बीच में आएगी। माली, ब्राह्मण और मैं सब एक ही धरती के पुत्र हैं। आज जमीन के ऊपर हैं, कल उसके नीचे जाने वाले हैं। वहाँ किसी की भी जाति का पता नहीं चलेगा। विषमता के ये सारे नखरे धरती के ऊपर ही चलते है।"[43] दलित रचनाकारों ने कहा कि जब तक धरती में है, तभी तक शोषण, अन्याय और अस्पृश्यता बना हुआ है जैसे ही मृत्यु हो जाएगी। सभी बराबर हो जाते हैं और उसी धरती में जाकर मिल जाते हैं इसलिए जब तक जीवित है तभी तक जाति और उपजातियों में बंधे हुए हैं, मृत्यु के बाद सभी में मिट्टी में मिल जाना हैं तो फिर यह विभेद धरती पर क्यों?

दलित समाज डॉ. भीमराव अंबेडकर की विचारों को अपने जीवन में समाहित कर रहा है। शिक्षित होकर अपने अधिकारों के लिए सामाजिक संघर्ष भी उस दौर में दिखाई देने लगे थे। डॉ.. भीमराव अंबेडकर के धर्म परिवर्तन का मराठी समाज पर बहुत प्रभाव पड़ा जिसका उल्लेख दया पवार ने अपनी आत्मकथा में किया है। "बाबा साहब ने नागपुर में 1956 में अपने लाखों ने अनुयायियों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी। इस ऐतिहासिक कार्यक्रम में मैं नहीं पहुंच सका। परंतु इस क्रांतिकारी परिवर्तन की आहट घर-घर पहुंच चुकी थी। अनेक परिवारों में अपने घर की दीवारों पर टँगी देवी-देवताओं की तसवीरें तोड डाली। पूजाघर के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ कौड़ी-पत्थर समझ फेंक दी गई। यात्र-मरीना-म्हसोबा-खंडोबा -इन परंपरागत भगवानों से मुँह फेर लिया गया। बकरे-मुर्गे

काटना बंद हो गए। वैसे हमारे घर में नाममात्र का पूजा स्थल था। चाँदी की खंडोबा-बहिरोबा की छोटी मूर्ति माँ ने खासतौर पर बचपन में तैयार करवाई थी। वह चाँदी के होने के कारण माँ ने चीथड़ों में बाँधकर कहीं रख दिए।"[44] डॉ. अंबेडकर का प्रभाव मराठी दलित आत्मकथाकारों के जीवन पर दिखाई पड़ता है। सामाजिक आंदोलनों एवं धार्मिक परिवर्तन का प्रभाव उनके जीवन में पड़ता है। शिक्षित जनता ही नहीं डॉ.. अंबेडकर के विचारों को स्वीकार कर रही है बल्कि बहुत बड़ा जनमानस था जिसके सामाजिक जीवन में बड़ा परिवर्तन आया था। डॉ. अम्बेडकर के विचारों को मराठी समाज समझ रहा था इसलिए वहाँ सामाजिक, साहित्य जागरूकता पहले देखने को मिलती है। बेबी कांबले ने दलित समाज और आज समकालीन समय में दलित समाज के प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों के विषय में बताया है कि "जिसने दलितों के लिए इतना किया या जो दलितों का भगवान है, नई पीढ़ी को उसके बारे में कोई ज्ञान नहीं है। बच्चों को गौतम बुद्ध, अंबेडकर कौन हैं, यह भी पता नहीं है। भगवान-भगवान करते हैं, संकष्टी चतुर्थी, शनिवार, गुरुवार को उपवास करते हैं। हमारी जात को सँवारा अंबेडकर ने और सर झुकाते हैं भगवान के आगे। जिस भगवान ने हमें गुलामी करने के लिए भी रचा था आज उसी भगवान को मानने लगे हैं। हमारे बच्चे इतने नालायक निकलेंगे, यह कभी सोचा ही नहीं था। हमने परजीवी पैदा किये। अब हमारे नेता भी भ्रष्ट हो गए हैं। उन्हें दिल्ली की गद्दी चाहिए। यह देख मेरा मन रो पड़ता है। अगर आज भीमदेव न होते तो हम लोग पडे होते किसी टूटी-फूटी झोपड़ी में और अन्न के लिए जंगलों में भटक रहे थे। पेट की आग बुझाने के लिए मरे जानवर खा रहे हो। एक हाथ-भर की लँगोटी पहने किसी झोपड़ी में सड़ रहे होते। अन्न के बिना तड़प रहे होते। दूसरों के गुलामी दिन-रात बजा रहे होते। सेवा में थोड़ी-सी भी गलती होती तो चाबुक की मार खा रहे होते। गाँव का बचा-खुचा बासी भोजन तुम लोगों का नसीब होता, उसी अन्न पर बच्चे पलते। लेकिन अंबेडकर ने हमें इन सब से मुक्ति दिलाई। हमारे लिए वसूल की तरह है जिन्होंने हमारे जीवन का अंधकार खत्म कर दिया।"[45]

डॉ. भीमराव अंबेडकर का प्रभाव मराठी दलितों आत्मकथाओं में देखने को मिलता है। आत्मकथाकार सामाजिक आंदोलन भी कर रहे हैं, धार्मिक अनुष्ठान का विरोध कर रहे हैं। वह सबको शिक्षित एवं सामाजिक अधिकारों से परिचित करवा रहे हैं। साहित्य के समाजशास्त्र की अवधारणा दलित मराठी आत्मकथा में है। लेखक अपने समाज एवं अपने समाज में आ रहे परिवर्तनों और अपने अनुभव के माध्यम से वह यथार्थ का चित्रण कर रहा है। जिससे पाठक अपने आप को एक जुड़ाव महसूस करता है। रचनाकार अपने परिवेश एवं पूरी रचना प्रक्रिया का वर्णन भी करता है, सभी आत्मकथाकार परिस्थितियों अलग-अलग है लेकिन उनका सामाजिक शोषण का आधार उनकी जाति है। दलित समाज अपनी कृति के माध्यम से अपने समाज को जागरूक और सामाजिक परिवर्तन की बात करता है जिसका प्रभाव प्रभाव दलित समाज पर देखने को मिलाता है।

## सन्दर्भ सूची:


1. डफ, जेम्स कनिंघम ग्रांट; अनुवादक-लक्ष्मीकांत मालवीय; मराठों का इतिहास; महामना प्रकाशन मंदिर, महामना मालवीय नगर, इलाहाबाद; संस्करण नवीन; पृष्ठ 4-5
2. वही, पृष्ठ 9-10
3. सुमन, क्षेमचंद्र; मराठी और उनका साहित्य; राजकमल पब्लिकेशन लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण प्रथम; पृष्ठ 12
4. डफ, जेम्स कनिंघम ग्रांट; अनुवादक-लक्ष्मीकांत मालवीय; मराठों का इतिहास; महामना प्रकाशन मंदिर, महामना मालवीय नगर, इलाहाबाद; संस्करण नवीन; पृष्ठ 10
5. वही, पृष्ठ 12
6. सुमन, क्षेमचंद्र; मराठी और उनका साहित्य; राजकमल पब्लिकेशन लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण प्रथम; पृष्ठ 13
7. डफ, जेम्स कनिंघम ग्रांट; अनुवादक-लक्ष्मीकांत मालवीय; मराठों का इतिहास; महामना प्रकाशन मंदिर, महामना मालवीय नगर, इलाहाबाद; संस्करण नवीन; पृष्ठ 15
8. वही, पृष्ठ 16
9. मेहरोत्रा, श्रीराम; साहित्य का समाजशास्त्र मान्यताएं एवं स्थापना; चौखम्भा विश्वभारती, वाराणसी; संस्करण 1980; पृष्ठ 9
10. वही, पृष्ठ 11
11. वही, पृष्ठ 18
12. पांडेय, मैनेजर; साहित्य और समाजशास्त्री दृष्टि; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; संस्करण 2016; पृष्ठ 141-142
13. वही, पृष्ठ 142
14. वही, पृष्ठ 151
15. वही, पृष्ठ 152
16. वही, पृष्ठ 167-168
17. वही, पृष्ठ 175
18. वही, पृष्ठ 191
19. वही, पृष्ठ 192
20. वही, पृष्ठ 198-199
21. काजल, अजमेर सिंह. दलित आत्मकथाएं वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 9
22. दाढ़े, वीणा; हिंदी- मराठी दलित आत्मकथाएं; अमन प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2017; पृष्ठ 56
23. काजल, अजमेर सिंह; दलित आत्मकथाएं वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 33
24. नैमिशराय, मोहनदास; हिंदी दलित साहित्य; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 201

25. काजल, अजमेर सिंह; दलित आत्मकथाएं वेदना, विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण; अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 19
26. दाढ़े, वीणा; हिंदी- मराठी दलित आत्मकथाएं; अमन प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2017; पृष्ठ 24
27. नैमिशराय, मोहनदास; हिंदी दलित साहित्य; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 195
28. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य: एक अंतर्यात्रा; नवारुण, गाज़ियाबाद; संस्करण 2015; पृष्ठ 155
29. नैमिशराय, मोहनदास; हिंदी दलित साहित्य; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 202
30. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य: एक अंतर्यात्रा; नवारुण, गाज़ियाबाद; संस्करण 2015; पृष्ठ 153
31. वही, पृष्ठ 154
32. लिम्बाले, शरणकुमार; अक्करमाशी; अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014; पृष्ठ 7
33. वही, पृष्ठ 21
34.गायकवाड़, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2011 पृष्ठ 15
35. वही, पृष्ठ 19
36. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे; राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 57-58
37. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 49-50
38. वही, पृष्ठ 94-95
39. वही, पृष्ठ 139
40. काम्बले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललित अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 48
41. गायकवाड़, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 109
42. काम्बले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललित अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2011 पृष्ठ 99
43. सोनकाम्बले, प्र. ई.; यादों के पंछी; अनु. डॉ.. सूर्य नारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2004; पृष्ठ 91
44. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे; राधाकृष्ण प्रकाशन लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 169-170
45. काम्बले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललित अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 132

# हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं का समाजशास्त्रीय अध्ययन : समानताएँ व भिन्नताएँ

दलित आत्मकथाएँ दलित समाज के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक चरित्र का वर्णन है। इन कथाओं में दलित समाज के घुमंतू सामाजिक जीवन एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की झलक दिखाई देती है। पारिवारिक उतार-चढ़ाव और जाति का ऐतिहासिक वर्णन आत्मकथा में देखने को मिलता है। दलित जीवन के दुखों-सुखो एवं रीति-रिवाजों मान्यताओं का वर्णन आत्मकथाकारों ने अपनी आत्मकथाओं में प्रस्तुत किया है। आत्मकथाकारों ने बहुत ही साहस के साथ अपने व्यक्तिगत जीवन के अनछुए पहलुओं को यथार्थ कथाओं में प्रस्तुत किया है। किसी भी समाज को समझाने के लिए सर्वप्रथम उसके परिवेश, वातावरण या व्यक्ति किस स्थान पर रह रहा है उसको देखना जरूरी हो जाता है, इसलिए हिंदी मराठी आत्मकथाकारों के परिवेश को देखना बहुत जरूरी है। उनमें क्या समानता है? और क्या भिन्नता है?

## 5.1 सामाजिक परिवेश:

तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा मुर्दहिया की भूमिका में लिखा है कि "'मुर्दहिया' हमारे गांव धर्मपुर (आजमगढ़) की बहुउद्देशीय कर्मस्थली थी। चरवाही से लेकर हरवाही तक के सारे रास्ते वही से गुजरते थे। इतना ही नहीं, स्कूल हो या दुकान, बाजार हो या मंदिर, यहाँ तक कि मजदूरी के लिए कलकत्ता वाली रेलगाड़ी पकड़ना हो, तो मुर्दहिया से ही गुजरना पड़ता था। हमारे गांव की 'जियो-पॉलिटिक्स' यानी 'भू-राजनीतिक' में दलितों के लिए मुर्दहिया एक सामरिक केंद्र जैसी थी। जीवन से लेकर मरण तक की सारी गतिविधियाँ मुर्दहिया समेट लेती थी। सबसे रोचक तथ्य यह है कि मुर्दहिया मानव और पशु में कोई फर्क नहीं करती थी। वह दोनों की मुक्तिदाता थी। विषेश रूप से मरे हुए पशुओं की मांसपिंड पर जूझते सैकड़ों गिद्धों के साथ कुत्ते और सियार मुर्दहिया को एक कला-स्थली के रूप

में बदल देते थे। रात के समय इन्हीं सियारों की हुआं-हुआं वाली आवाज उनकी निर्जनता को भंग कर देती थी। हमारी दलित बस्ती के अनगिनत दलित हजारों दुख-दर्द अपने अंदर लिये मुर्दहिया में दफन हो गए थे। यदि उनमें से किसी की भी आत्मकथा लिखी जाती तो उसका शीर्षक 'मुर्दहिया' ही होता।"[1] तुलसीराम ने अपने गाँव के नजदीक मुर्दहिया नामक स्थान के विषय में बताया है। वह स्थान उनके गाँव से निकलने का एकमात्र रास्ता है, और उसी रास्ते पर जानवरों को चराने, मृत जानवरों की खाल निकालने, मुर्दों को जलाने और दफनाने, गिद्धों और कुत्तों के बीच मांस को लेकर झगड़ने का वही स्थान है। मुर्दहिया दलितों के लिए कर्मस्थली एवं अपने जीवन को बेहतर बनाने का रास्ता भी मुर्दहिया से ही होकर जाता है। तात्पर्य यह है कि दलितों को सर्वप्रथम शहरों में कमाने, अपनी पुरानी मान्यताओं और जड़ताओं को तोड़ने (विद्यालय) का भी रास्ता मुर्दहिया से ही होकर जाता है।

मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा अपने-अपने पिंजरे के पहले भाग में अपने परिवेश के विषय में बताते हैं कि "हमारी बस्ती भी शहर की अन्य बस्तियों की तरह की बस्ती का नाम चमार गेट था फिर चमार दरवाजा हुआ। जिसे लोग चमार दरवज्जा ही अधिक कहते-बोलते थे बस्ती के सिरे पर एक बड़ा गेट था। पहले हमारी बस्ती शहर के भीतर एक कोने पर थी। शाम होते-होते दरवाजे बंद कर दिये जाते थे। इसी कारण बस्ती का नाम चमार गेट पड़ा। बस्ती में शिक्षा का प्रसार हुआ तो उसे जाटव गेट कहा जाने लगा। वैसे नगरपालिका के रजिस्टर में इसे बाद में करमअली नाम से ही जाना गया। चुनाव की पर्चियों पर भी यही नाम छपता था। कुछ लोग इसे चमारों का मोहल्ला भी कहते थे। आज भी रिक्शे-ताँगे वाले सवारी लेने के लिए जोर-जोर से चमार दरवज्जा कहकर पुकारते हैं।"[2]

नैमिशराय अपने समाज के जीवन विषय में बताते हैं कि दलित बस्ती में चमड़े का काम होता है जिससे उनके घर आँगन और छत पर से चमड़े सुखाये जाते हैं। जिसकी गंध पूरे बस्ती में फैल जाती है। नगर, कस्बे में प्रवेश करने के लिए एक द्वार होता है जिसको नगर या कस्बें के नाम से संबोधित किया जाता था, लेकिन इनके नगर के द्वार का नाम ही चमार दरवज्जा रख दिया गया था यह नाम वहाँ के निवासियों के द्वारा यह रखा गया है। इससे उस समाज के लोगों की भावनाएँ दलित समाज के

लिए दिखाई देती है। दलित समाजों के साथ कहीं-कहीं मुस्लिम समाज की भी बस्तियां रही हैं मोहनदास नैमिशराय के बस्ती के बगल में मुस्लिम समाज रहता था। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने जूठन आत्मकथा में भी इसका उल्लेख किया है, "हमारा घर चंद्रभान तगा के घेर से सटा हुआ था। उसके बाद कुछ परिवार मुसलमान जुलाहों के थे। चंद्रभान तगा के घर के ठीक सामने छोटी सी जोहडी (जोहड का स्त्रीलिंग) थी, जिसमें चुहड़ों के बगड और गाँव के बीच एक फासला बना दिया गया था। जोहडी का नाम डब्बोवाली था। डब्बोवाली नाम कैसे पड़ा, कहना मुश्किल है हाँ, इतना जरूर है कि इस डब्बोवाली जोहड़ी का रूप एक बड़े गड्ढे के समान था, जिसके एक ओर तगा के पक्के मकानों की ऊँची दीवारें थी। जिनसे समकोण बनती हुई झीवारों के दो-तीन परिवारों के कच्चे मकानों की दीवारें थी। इसके बाद फिर तगाओं के मकान थे।"[3] वाल्मीकि अपने गाँव के विषय में बताते हैं कि बरसात के दिनों में गलियों कीचड़ से भर जाता था जिससे वहाँ चलना बहुत ही मुश्किल हो जाता था और बरसात का पानी जमा होने के कारण मच्छर और मक्खी पैदा होते थे  महीनों बरसात का पानी भरा रहता हैं जिससे बस्ती के लोगों को बहुत ही कष्ट का सामना करना पड़ता था। तुलसीराम दलित समाज का अकाल के समय का विवरण देते हैं "सन 1959 की गर्मियों में संपन्न इस परीक्षा के दो महीने से ज्यादा समय की छुट्टियाँ थी। अकाल की गर्मी चरम सीमा पर थी। साथ ही समस्याएं भी वैसे ही थीं। मेरे पिताजी बार-बार मुझ समझाते रहे कि बेटा अब बहुत पढ़ाई हो गई। वे यह भी कहते रहे कि अब बहुत ज्यादा दिन तक उनसे हरवाही नहीं होगी 'अब तोहके हरवाही करै के पड़ी', ऐसा सुनकर मैं दहल जाता था।"[4] लेखक बताते हैं कि गर्मी और बरसात के समय में दलित समाज के पास खाने के लिए अनाज नहीं होता है, उनके पिता हरवाही का काम करते हैं और वह चाहते हैं कि उनका भी बेटा उन्हीं की भांति हरवाही करें। जिससे घर की आर्थिक स्थिति में थोड़ा सुधार हो। इन कठिन परिस्थितियों में भी लेखक ने आगे पढ़ने का निर्णय लिया। तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा के दूसरे भाग मणिकर्णिका में बनारस की समाज के परिवेश के विषय में लिखा है। "एक हिंदू मान्यता के अनुसार जिस किसी का अंतिम संस्कार मणिकर्णिका घाट पर किया जाता है, वह सीधे स्वर्ग जाता है।

यह भी कहा जाता है कि शिव की पत्नी पार्वती के कानों में पहने जाने वाली मणि इसी जगह गंगा में खो गई थी, जिसके कारण इस घाट का नाम मणिकर्णिका पड़ा। इस घाट पर सदियों से लगातार चिताएं कभी नहीं बुझीं। अतः मृत्यु का कारोबार यहाँ चौबीसों घंटे चलता रहता है। सही अर्थों में मृत्यु बनारस का एक बहुत बड़ा उद्योग है। अनगिनत पंडों की जीविका मृत्यु पर आधारित रहती है। सबसे ज्यादा कमाई उस डोम परिवार की होती है, जिससे हर मुर्दा मालिक चिता सजाने के लिए लकड़ी खरीदता है। यह डोम परिवार उस पौराणिक कथा का अभिन्न अंग बन चुका है, जिसमें उसके पूर्वजों के हाथों पर कभी राजा हरिश्चंद्र बिक गए थे। डोम के गुलाम के रूप में राजा हरिश्चंद्र की नियुक्ति मुर्दाघाट की रखवाली के लिए की गई थी।"[5] तुलसीराम बताते हैं कि मृत्यु व्यक्ति के व्यवसाय का आधार बन गई है। यहाँ पर पंडे और डोम उन व्यवसाय के जरिये अपनी आजीविका चला रहे हैं। व्यक्ति की सारी संवेदनाएँ खत्म हो गई हैं। मृत्यु पर भी लोग उद्योग कर रहे हैं। शरणकुमार लिम्बाले गाँव में किसी व्यक्ति की मृत्यु की कामना करते है जिससे उनको भरपेट भोजन मिल सके। दोनों घटनाओं में अंतर यह है कि एक जगह वह व्यवसाय और दूसरे जगह वह भरपेट भोजन का जरिया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि जब कॉलेज में शिक्षा प्राप्त करने जाते हैं, तब वहाँ के विषय में बताते हैं कि "इंद्रेश नगर वैसे तो एक ही मोहल्ला था। लेकिन अंदरूनी तौर पर दो हिस्से में था। एक ओर वाल्मीकि रहते थे, तो दूसरी ओर जाटव, आपस में संबंध तनावपूर्ण थे। अक्सर मारपीट, लड़ाई-झगड़े होते रहते थे। दो-तीन परिवार भाटडो के भी थे, जो सिक्ख थे। उनमें आपस में की लड़ाई-झगड़े लगभग हर रोज होते थे। कभी-कभी तो तलवारें भी खिंच जाती थीं। ऐसे चरम क्षणों में उनकी औरतें मर्दों को घरों में खींच लेती थीं। खूब शोर-शराबा होता था।"[6] लेखक बताते हैं कि नगर में भी दलित की एक निश्चित सीमा तय कर दी गई है। वह उसी में एकत्रित होकर रहते हैं और अन्य दलित जातियाँ उनके बगल निवास करती हैं।

सुशीला टाकभौरे ने अपनी आत्मकथा शिकंजे का दर्द में अपने विषय में बताया है कि "भारत के हृदय-स्थल मध्यप्रदेश के बानापुर गाँव में मेरा जन्म हुआ। बानापुर का पुराना नाम बरहानपुरा था।

होशंगाबाद जिले के सिवनी मालवा का यह रेलवे स्टेशन है। होशंगाबाद-सिवनी रोड पर होने पर यहाँ बस स्टैंड रहता है। तहसील सिवनी मालवा कस्बा जैसे छोटे शहर से जुड़ा यह गाँव थोड़ा उन्नत था फिर भी दूसरे गाँवों जैसा ही था। रेलवे स्टेशन के एक तरफ ऊँचा बाजार और नीचा बाजार में सवर्ण संपन्न लोगों के मकान और दुकानें थीं। रेलवे स्टेशन के दूसरी तरफ 'फेल' में मजदूर वर्ग के पिछड़े लोगों की बस्तियाँ थीं। हम लोग पिछड़ों उसे भी पिछड़े थे। ऊँची-नीच, जातिभेद की भावना सब तरफ व्याप्त थी। तब गाँव में बहुत छुआछूत थी। अछूत भंगी हरिजनों के घर गाँव के बाहर रहते थे, हिंदू महाजनों की बस्ती से दूर, कच्चे खपरैल घर।"[7] टाकभौरे बताती है कि जो संपन्न जातियाँ थी, वह दूसरी तरफ निवास करती थी। दलित समाज गाँव के अंतिम छोर पर निवास करता है। उनके समाज में भी छुआछूत, जाति-भेद देखने को मिलता है। किसी भी गाँव या कस्बे में दलित समाज को असुविधाओं वालें स्थानों पर रखा जाता है उन्हें गाँव के बाहर निवास करने के लिए स्थान दिया जाता था। ग्रामीण संरचना में प्रत्येक जाति के अलग-अलग कस्बे होते हैं उनकी जातियों के आधार पर वहाँ पर सुविधाएँ और स्वच्छता देखी जा सकती है। आज भी शहर को देखे तो जितनी भी निम्न जातियाँ या मजदूरवर्ग है वह स्लम में निवास करता है। आज भी यह अंतर गाँव एवं शहर में दिखाई देता है। "हमारे ग्रामीण जीवन में भूमिहीनता से बड़ी गुलामी और दूसरी नहीं थी। जो भू-स्वामी हैं उनका जुल्म, ज्यादती, आतंक सब जायज थे। फसल कटने या शकरकंदी खुदने के समय तो पेट भरा जा सकता था, अन्यथा रात खाते तो सुबह भूखे और सुबह खाते तो शाम को भूखे रहना होता था।"[8] बेचैन ने दलित समाज के पारिवारिक स्थिति की चर्चा कि अगर वह मेहनत मजदूरी करता है तो उसे एक टाइम का तो खाना मिल जाता है, लेकिन फिर रात के खाने के लिए उसके पास कुछ नहीं बचता है। दलित समाज के किसी एक परिवार की यह समस्या नहीं है बल्कि पूरे संपूर्ण कस्बे की यही समस्या है। "मेरे जन्म के समय मेरा घर-परिवार कैसा था, उसका गुजारा कैसे होता था, इन सवालों पर गौर करता हूँ तो थोड़ा हैरत और दहशत से भर जाता हूँ। तमाम सालों में दुनिया कहाँ-से-कहाँ पहुँच गयी। हम अपने घर-परिवार के साथ वहीं-के-वहीं रह गये। आज भी स्थिति कमोबेश वैसी है, जैसी मेरे जन्म के समय थी।

गाँव में आज भी मेरे घर में आसानी से रोटी नहीं जुटती है। रोजगार का कोई साधन नहीं है। गैर दलितों की तुलना में हालात बद से बदतर हो चुके हैं चमड़ा कमाने बनाने का धंधा तो दशकों पहले बंद ही हो गया था। डेढ़-दो- बीघे पुश्तैनी जमीन के तीन टुकड़ों में से एक बचा है। भला मेरे इस सर्वस्वहीन चमार घर को क्यों कोई इज्जत दे?"[9] बेचैन अपने गाँव के विषय में बताते हैं कि दलितों ने पहले के धंधे (चमड़े का काम) को बंद कर दिये हैं। उनके पास जमीन नहीं है जिससे खेती करके अपना भरण-पोषण कर सके। इनके गाँव के आसपास तो अहीर और वाल्मीकि समाज के लोग रहते हैं, अहीर अपने को सवर्ण समझते है और चमार को निम्न समझाते है। चमार वाल्मीकि समाज को निम्न समझता है, चमारों के भी दो भाग है एक चमार तो दूसरा जाटव। जाटव चमार को निम्न मानते है। यहाँ पर भी दलितों के साथ एवं दलित आपस में भी ब्राह्मणवादी मानसिकता के साथ व्यवहार करते है।

दया पवार अपनी आत्मकथा में अपने जन्म स्थान को ही अपने शोषण का कारण मानते हैं। वह कहते हैं कि "यह मुझे अच्छी तरह मालूम है। यदि मेरा जन्म बर्फीलें टुन्ड्रा प्रदेश में हुआ होता तो क्या ऐसा ही भूतकाल मेरे हिस्से में आता? वहाँ भी दुख-तकलीफें होंगी, परंतु उनका स्वरूप अलग होगा। इस तरह का मनुष्य-निर्मित भयंकर दुख न होगा।"[10] लेखक ने दलित समाज के पीड़ा, दुख-तकलीफ का मुख्य कारण प्राकृतिक निर्मित नहीं मनुष्य निर्मित माना है। मनुष्य प्राकृतिक निर्मित दुखों या कष्टों से उभर जाता है, और समय के साथ उसको भूल भी जाता है लेकिन मानव निर्मित व्यवस्था मनुष्य के साथ-साथ हमेशा चलती रहती है।

दलित समाज की मुख्य समस्या भूख है। काम न मिलने के कारण एवं अकाल पड़ जाने के कारण खाने के लिए कुछ नहीं मिलता था तो वह शहर की तरफ भी पलायन करते थे। दोहरा अभिशाप में कौसल्या बैसंत्री ने उल्लेख किया है "पारडी गाँव और आस-पास के गाँव में वर्षा न होने से अकाल पड़ गया था। गाँव से लोग शहर में आने लगे। साखरा बाई भी बाबा को लेकर नागपुर आ गई। पहले वह भी आजी के घर के पास ही रहती थी। बाद में धरमपेठ नामक जगह पर दो कमरे का टूटा-सा मकान खरीदा। घर मिट्टी का बना था। बाबा और साखरा बाई ने मिलकर इस घर को दुरुस्त

किया। लीप-पोतकर बहुत अच्छा बना लिया और वे दोनों वहाँ रहने लगे। यह घर धरमपेठ की दलित लोगों की बस्ती में था। अब बाबा बड़े हो गए थे और उनको नौकरी करना जरूरी हो गया था। वे नौकरी की तलाश करने लगे। आखिर उनको नागपुर के सी.पी. क्लब में नौकरी मिल गई।"[11] मराठी दलित आत्मकथा में गाँव से शहर की तरफ पलायन बड़ी मात्रा में दिखाई देता है। लेकिन हिंदी दलित आत्मकथा में गाँव से शहर की ओर लोग शिक्षा प्राप्त करने के लिए ही जाते हैं या नौकरी प्राप्त करने के उपरांत ही शहर जाकर बसते बसते हैं। उत्तर भारत के बुंदेलखंड इलाके में गर्मी के मौसम में ज्यादातर लोग शहर की तरह मेहनत मजदूरी के लिए चले जाते और जब मौसम ठीक होता है तो अपने गाँव की ओर लौटकर वापस आते है। इनकी मुख्य समस्या गर्मी में पानी न होना ही है, लेकिन दलित शोषण, अकाल दोनों के कारण शहर की ओर रुख करता है।

दलित समाज में शिक्षा न होने के कारण उनमें बीमारियों के प्रति अंधविश्वास भर दिया गया था। वह उन बीमारियों को अंधविश्वासों के द्वारा उसे ठीक करने का प्रयास करते थे। उर्मिला बताती है कि "उन दिनों हैजे और महामारी से तो गरीब मरते ही थे, परंतु टाइफाइड, निमोनिया आदि कभी कोई इलाज नहीं था। मेरा बड़ा भाई अच्युत कॉलेज के दूसरे वर्ष में पढ़ रहा था। उसे टाइफाइड हुआ और वह चल बसा... तब मैं सात या आठ बरस की रही हूँगी। तभी से अच्युत की मृत्यु की याद एक घटनाक्रम से जुड़ी है।"[12]

लक्ष्मण गायकवाड ने अपने समुदाय के विषय में बताया कि जाति के नाम पर उन्हें चोर समझ लिया जाता और पुलिस प्रशासन उन्हें परेशान करता और वहाँ की आम जनता उन्हें कोई काम नहीं देती तथा उनके शोषण का भी शिकार होते हैं। अपने गाँव और कस्बे के विषय में बताते हैं कि "जिस समूह के पास न कोई गाँव है, ना खेत, न कोई जाति और न जन्मदिन के हिसाब-किताब की पद्धति- ऐसी ही एक जाति में मैं जनमा। लातूर तहसील के धनेगाँव नामक गाँव की एक उठाईगीर जाति में मेरा जन्म हुआ। इस धनेगाँव को ही मैं अपना 'वतन का गाँव' कहता हूँ। जब मैं छोटा था तब मेरे घर पर घास-फूस का छप्पर था। यह छप्पर मुझे गौरैया के घोसले की तरह लगता। जमीन पर बैठकर रेंगते हुए

ही हम सबको इस घर के भीतर जाना पड़ता था। दादी तरसाबाई घर का खर्चा चलाती थी। दादा बेकार हो चुका था। उसे दिन में दो बार पुलिस-स्टेशन में हाजिरी लगवानी पड़ती थी। इस कारण का कोई काम नहीं कर सकता था। वैसे बहुत पहले से हमारा पूरा घर दादा लिंगप्पा ही चलाता था। दूर-दराज के पहले गाँवों में वह जेब काटने, उठाईगीरी करने जाता था और घर चलता था। इस पूरे इलाके में उन दिनों वह उठाईगीरों में बहुत मशहूर था।"[13] दलित समाज के प्रत्येक घरों की स्थिति ऐसी ही थी। वह घास-फूस के घर बनाते और एक ही घर में पूरा परिवार रहता। बरसात के दिनों में उन से पानी टपकता था। सवर्ण जाति के लोग दलितों को ब्याज में पैसे देते और उनसे उस ब्याज का दुगना पैसा वसूल करते, कभी-कभी तो वह उनकी घर, जमीन तक हड़प लेते थे। दलित समाज की महिलाओं ने भी अपनी परिस्थिति को बताया है, जीवन हमारा में बेबी कांबले लिखती हैं कि "हम केवल बच्चे ही तो पैदा करते थे। दुष्ट लोगों की सेवा के लिए इन बच्चों को तैयार कर हम लोग आधा जीवन जीकर मर जाते थे। गरीब इंसानों का जीवन तीस-चालीस वर्ष से अधिक का नहीं था। तीस- चालीस वर्ष में ही वह मिट्टी में मिल जाते थे। लेकिन अपने पीछे सेवादारों को छोड़ जाते थे। उनके मिट्टी में मिल जाने के बाद उन्हीं की संतानें फिर धरतीमाता की और राक्षसों की सेवा करने के लिए तैयार हो जातीं। एक तरफ पेटभरे सुखी लोगों का समाज था, तो दूसरी तरफ अन्न के दानों को तरसताघोर दरिद्र समाज था। इन घोर गरीबों के हाहाकार और विलाप से धरती काँप उठती थी।"[14] दलित महिलाओं ने अपने दोहरे शोषण को उजागर किया है। वह घरों एवं खेतों में काम करती और पितृसत्तात्मक समाज के साथ-साथ ब्राह्मणवादियों में सामंतवादी मानसिकता के लोगों का भी विरोध झेल थी। सामाजिक शोषण के साथ-साथ महिलाओं का शारीरिक शोषण भी होता था।

हिंदी दलित आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' में लेखक एवं उनका परिवार या उनके समाज के लोग अपनी आजीविका के लिए मेहनत मजदूरी एवं चमड़े का कार्य करते हैं। दलित समाज का उनके सामाजिक जीवन स्तर एवं अन्य समाज के लोगों के बीच जीवन स्थितियों का पता लगाया जा सकता है। जिसका वर्णन दलित आत्मकथाओं में देखने को मिलता है। "गली में हमारे दो घर थे। एक में बा

चप्पल बनाता था। दूसरे में माँ के साथ मैं सोता था। जिस घर में चप्पल का काम होता था उसे हम दुकान कहकर पुकारते थे। वहाँ ढेर- सारा सूखा, गीला चमड़ा पडा होता था। चमड़ा भी अलग-अलग तरह का-बनवर, कटई, कॉफ़ (गाय का चमड़ा) पुटठा। कुछ कटे हुए टुकड़े तो कुछ सबूत। बनी हुई छप्पल, बच्चों के सैंडल भी होते थे। बा उन  दिनों बच्चों के सैंडल अधिक बनाता था। साथ में एक-दो कारीगर भी वहीं बैठते थे। दुकान में चमड़े की कसैली गन्ध होती थी। बा हुक्का भी पीता था।"[15] दलित समाज में भी जातिगत भेद हैं इनके कार्य इनकी जाति के आधार पर ही निर्धारित किये जाते हैं। जो चमड़े का कार्य करते हैं उन्हें चमार और जो चमड़े का कार्य नहीं करते हैं, उन्हें जाटव कहते हैं। जो साफ-सफाई का कार्य करते हैं उन्हें भंगी कहते हैं। अपने जन्म आधारित कार्य को भी कुछ लोग नहीं करते हैं। वह मेहनत मजदूरी या हरवाई किया करते हैं। इसी से उनकी आजीविका चलती है। इतनी मेहनत-मजदूरी करने के बाद भी पेट-भर भोजन नहीं मिलता है। बच्चे कपड़े और जूते के आभाव में विद्यालय जाते। "पाँवों में जूता अभी भी नसीब नहीं हुआ था। कपड़े का जूता तक नहीं खरीदा सका था मैं। स्कूल में रोज-रोज डाँट भी खानी पड़ती थी। चप्पलें ही थीं बस जिन्हें पहनकर सर्दी में स्कूल जाता था। पाँवों की दोनों अंगुलियाँ कभी-कभी सूज जाती थीं। बा से मैं जानबूझकर इस बारे में कुछ ना कहता था। इसलिए कि मुझे मालूम था कि वह जूता नहीं खरीद सकता।"[16] दलित समाज मेहनत-मजदूरी से कभी भी पीछे नहीं हटा उसने अपनी और अपने परिवार की भूख मिटाने के लिए जो भी संभव बन पड़ा है वह किया। महिलायें रात-दिन काम किया करती थी, और पुरुष भी दिन-भर काम करते थे, लेकिन सामाजिक व्यवस्था ऐसी कि उन्हें जरुरी सामान, भरपेट भोजन नहीं मिलता था। तो सम्मान से जीने, घर और भूमि की बात ही क्या किया जाये। "हमारी जात के मर्द-औरतों को चौबीस घंटे उनकी सेवा करने को तत्पर रहना ही पड़ता था। दिन का कोई समय हो, रात कितनी भी गहरी हो गयी हो। सवर्णों का मूलमंत्र भी तो यही था। दलितों को पुरानी पीढ़ी के साथ नई पीढ़ी को भी गुलाम बनाकर रखना। हमारा काम था सेवा करना। हम सेवादार थे और वे हमारे मालिक। उनके हाथ में हंटर होते, चाकू होते, लाठी बल्लम होते। वे इनके साथ धर्म, भाग्य और भगवान के हथियार भी इस्तेमाल

करते। यही तो हमारा भाग्य है। ऐसा हमें बार-बार याद दिलाया जाता है।"[17] दलित समाज को अपनी सेवा करने के लिए सवर्ण गुलाम बना कर रखते और इसे भाग्य एवं भगवान से जोड़कर उनके विद्रोह और दमन की शक्ति को खत्म कर देते इसलिए दलित समाज हमेशा दुख-दर्द और अभाव में जीवन जीता रहा है। शिक्षा ही एक ऐसा हथियार था जिससे इन सारी कष्टों से निदान मिल सकता था। डॉ.. भीमराव अंबेडकर के विचारों ने दलित समाज बहुत गहरा प्रभाव पर डाला, जिससे दलित समाज शिक्षा की ओर अग्रसर होते हैं, और जीवन के हर एक कठिनाई से लड़ने के लिए तैयार होते हैं। "शिक्षित बनो, संगठित बनो, और संघर्ष करो। पर कौन संघर्ष करे और कैसे, दो रोटी खाने को नहीं, शरीर पर कपड़ा नहीं, रहने को सिर के ऊपर छत तक नहीं। घुमंतू जातियाँ फिर भी ठीक, कहीं भी जाकर डेरा डाल लिया और काम शुरू। वे शहर के भीतर भी जाते और बाहर भी। पर दलितों की स्थिति तो बहुत विकट थी। उन्हें शहर क्या गाँवों  के भी हाशिए  पर रखा जाता था। वह पढ़-लिख रहे थे, पर उन्हें नौकरी नहीं, नौकरी भी मिल गई तो रहने को किराये का मकान कौन देता है। इस तरह के सवाल किसी एक को ही नहीं झिंझोड़ते थे बल्कि समूचे दलित समाज को मथते थे।"[18] दलित समाज शिक्षित होकर नौकरी या अन्य व्यवसाय करता है तो उसे रहने के लिए मकान नहीं है। दलित समाज को शहर में सामाजिक बहिष्कार देखने को मिलता है। नौकरी के दौरान अन्य जातियों के लोग इन्हें हीनभावना से देखते हैं। "स्कूल में मेरे आने की देरी नहीं हुई थी कि सवर्ण अध्यापकों के पेट का पानी हिलने-डुलने लगा था। वह मेरे पीछे ही नहीं बल्कि सामने भी आरक्षण के खिलाफ नमक-मिर्च लगा कर खूब चटखारे लिया करते थे। मैं आरक्षण के समर्थन में अपनी दलील देना चाहता, कुछ कहने का प्रयास भी करता, पर वह सुनते ही नहीं। वे आरक्षित पदों पर कार्यरत कर्मचारियों का मजाक उड़ाते। उनके भीतर तरह-तरह की कमियाँ निकालते। दो-चार सप्ताह में ही मुझे अहसास हो गया था कि वह सब पढ़ने में कम रुचि लेते हैं और राजनीति करने में अधिक। क्लास रूम में बच्चे शोर मचाते।"[19]

दलित समाज का व्यक्ति अगर पढ़-लिखकर नौकरी प्राप्त कर लेता है तो ब्राह्मणवादी व्यवस्था उसके काम और सम्मान को हमेशा नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं। "क्यों प्यारे! क्या प्रक्रिया है इस

पद को ग्रहण करने पर?... कुछ मत कहना। तुम चाहे जितने बड़े लेखक, बुद्धिजीवी बन जाना, हमारी बनाए व्यवस्था घुमा-फिराकर तुम्हें यही अहसास कराती रहेगी कि तुम्हारी असली जगह क्या है! मेरी मानो, चुपचाप बिना कुछ कहे अपने ऑफिस में बैठो और सरकारी काम के साथ-साथ उस अनुभाग में कार्यरत सफाईकर्मियों को जीने का सलीका सिखाओ। यह मानकर कि चाहे किसी भी मानसिकता के तहत तुम्हें वहाँ भेजा गया है लेकिन सही भेजा गया है, यह सिद्ध कर दो।"[20] दलित व्यक्ति जब नौकरी प्राप्त करता है तो उसे ऐसा अनुभाग दे दिया जाता है जिसमें वह अपने पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही व्यवस्था को ही देख सके और अपनी ही जाति के कर्मचारियों के संग रह सके।

तुलसीराम ने अपने पारिवारिक जीवन स्थिति को बताया है। "मेरे दादा-परदादा गांव के ब्राह्मण जमीदारों के खेतों पर बंधुआ मजदूर थे। उन जमीदारों ने ही कुछ खेत उन्हें दे दिया था। गांव के अन्य दलित भी उन्हीं जमीदारों के यहां हरवाही (हल चलाने का काम) करते थे। यह हरवाही को पुश्त-दर-पुश्त चली आ रही थी। मेरे परिवार में पिता जी के अन्य चारों बड़े भाई हरवाही नहीं करते थे। क्योंकि उनके बड़े-बड़े कई बेटे थे, जिनमें से पांच आसनसोल की कोयला खदानों, कलकत्ता की जूट मिलों में लोहे के कारखानों में काम करते थे। किंतु मेरे पिताजी को खानदानी हलवाही से कभी मुक्ति नहीं मिली। वे अकसर कहा करते थे कि यदि हरवाही छोड़ दूंगा तो 'ब्रह्महत्या' का पाप लगेगा। अत्यंत धर्मांध होने के कारण वे हरवाही को बना जन्मसिद्ध अधिकार एवं पवित्र कार्य समझते थे।"[21] तुलसीराम दलितों के सामाजिक कर्तव्य की बात अंधविश्वास के माध्यम से बताया है। कैसे उनके भीतर अंधविश्वास भर दिया गया कि अगर सवर्णों की सेवा न की तो यह पाप होगा। जिसका खामियाजा उन्हें भुगतना होगा इसी के चलते उनके पिता हरवाही कर रहे हैं। नहीं तो वह भी किसी अन्य शहर में जाकर मजदूरी कर सकते थे। दलित समाज के ऊपर सबसे बड़ी समस्या बरसात का मौसम था, बरसात न होने पर फसल नहीं पैदा होती थी और वह सूखा घोषित कर दिया जाता था। उनके घर में खाने की समस्या हो जाती थी। सूखे को भी कभी-कभी अंधविश्वास से जोड़ा जाता था इसका उदाहरण तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा मुर्दहिया में दिया है। "उधर वापस गांव में देखा जाए

तो सन 1958-59 लगभग 1957 का ही अग्रसारित रूप था। इस अवधि में हमारे पूरे क्षेत्र में भयंकर सूखा पड़ गया तथा दोनों वर्ष बहुत कम वर्षा हुई थी। चारों तरफ हाहाकार मचा हुआ था। उचित सिंचाई के साधन की निहायत कमी के कारण अधिकतर फसलें सूख गई थीं। अतः1957 में नवग्रहों के मिलने से होने वाली अनिष्ट की अफवाहों का 'साकार रूप' सूखे से उत्पन्न स्थिति में लोगों को साफतौर पर दिखाई देने लगा था। इसलिए अंधविश्वासों का हद से ज्यादा बोलबाला हो गया था। खाद्यान्नों की कमी के कारण लोग भूखमरी के शिकार होने लगे थे। अनेक गांवों में विशेष रूप से दलित परिवारों के लोग रात में अक्सर फाका करने लगे थे। हमारे घर वालों की भी यही स्थिति थी। हमारी दादी हुक्की पीने की बड़ी शौकीन थी। इसलिए बोरसी में हमेशा कंडे की आग सुरक्षित रहती थी। दलित बस्ती के अनेक औरतें चूल्हा जलाने के लिए प्राय: रोज दादी से आग मांगकर ले जाती थीं। उस समय अनेक घरों में फाका के कारण चूल्हे नहीं जलते थे, इसलिए दादी से कोई जब आग मांगने नहीं आता तो वह बड़ी दुखित होकर कहती कि लगता है उनके घर खाना नहीं पकेगा।"[22] वर्षा न होने के कारण या कम होने के कारण उसका सीधा प्रभाव दलित समाज पर पड़ता था। उन्हें मजदूरी नहीं मिलती थी जिससे उनके घर में भूखमरी की स्थिति हो जाती थी। इससे बचने के लिए दलित समाज रात का भोजन करना बंद कर देता था। वह भोजन के वैकल्पिक रूप का सहारा लेता था। तुलसीराम जब बीएचयू पढ़ने आते हैं उस दौरान नवरात्रि के समय उनके पास खाने के लिए कुछ नहीं होता है। तब वह अपने 'ओथेलो' शेक्सपियर की रचना को बेचकर भूख मिटाते हैं। "मेरे हाई स्कूल वाले प्रधानाचार्य धर्म देव मिश्रा हमेशा कहा करते थे कि बनारस कोई भूखा नहीं रहता है, कहीं न कहीं से शाम को खाना अवश्य सब मिल जाता है। मेरा उनकी इस धारणा में अटूट विश्वास हो गया था। किंतु भदैनी में यह विश्वास टूटकर चकनाचूर हो गया। मुझे पहली बार ऐसा लगा कि मान्यताओं या आस्थाओं से जिंदगी नहीं चलती। गौतम बुद्ध ज्ञान की तलाश में में महीनों भूखे रहकर श्मशान साधना करते थे और नर कंकालों का सिरहाना बनाकर वहीं सो जाते थे। भूख की हालत में उन्हें यह वैज्ञानिक अनुभूत हुई कि खाली पेट मस्तिष्क काम नहीं करता, इसलिए वे खाने लगे। खाली पेट रहना

मेरे लिए यह विकराल समस्या थीं। अत: उस 'नवरात्रि व्रत' के अंतिम दिन मेरा दिमाग चल पड़ा। उन दिनों बी.एच.यू. गेट के सामने वाले लंका मोहल्ले में 'स्टूडेंट फ्रेंड' नामक एक किताबों की दुकान होती थी जिसमें विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में लगाई गई पुस्तकों की खरीद-फरोख्त होती थी।"[23]

दलित समाज की सबसे मुख्य समस्या भोजन की थी। जो उनकी आत्मकथाओं में देखने को मिलती है। दलित समाज हिंदू समाज की तरह रूढ़िवादी एवं परंपरावादी नहीं था वह परिस्थितियों और उनके अनुसार हो रहे समाजिक परिवर्तनों को भी स्वीकार करता है। "पुनर्विवाह करना, विधवा विवाह करना या स्त्री-पुरुष को परस्पर सहमति से छोड़ना-जोड़ना हमारे यहाँ सामान्य प्रक्रिया थी। ब्राह्मणों जैसे जटिलता हमारे यहाँ आज भी नहीं है, जिसमें विधवा स्त्री जिंदगी-भर दूसरों पर बोझ बनी बैठी रहती है। अपनी माँ और बहन के वैधव्य के उदाहरण मेरी स्मृति में जिंदा हैं, कम से कम मेरे सामाजिक परिवेश में विधवा विवाह का विरोध और सतीप्रथा दलित स्त्रियों की समस्याएँ कभी नहीं रही हैं।"[24] दलित समाज में पुनर्विवाह, विधवा, विवाह बहुत सामान्य सी प्रक्रिया मानी जाती है। दलित समाज में स्त्री-पुरुष किसी से भी अपने सामाजिक संबंध बना सकते थे। वह उन्हें तोड़ भी सकते थे। दलित समाज में सती प्रथा या अन्य प्रथाएं देखने को नहीं मिलती। बेचैन के पिता की मृत्यु होने के बाद उनकी माँ ने पुनर्विवाह किया। लेकिन इस विवाह से उन्हें वह अधिकार नहीं मिला क्योंकि वह सौतेला बेटा कहलाते थे वह बताते हैं कि "इस प्रकार मेरा बचपन मेरे बोझ लेकर मेरे कन्धों पर सवार होना शुरू हो गया था। बचपन मैं छोड़ नहीं सकता था और भार लेकर दौड़ नहीं सकता था। जीवन की मंजिलें आवाज दे रही थीं। रास्ते अनिश्चित और अपरिचित थे पाली में मेरा गुजारा नहीं था। मैं यहाँ अवांछित तत्व था। बचपन के निर्वाह की जिम्मेदारियाँ खुद के कंधों पर थी।"[25] दलित समाज का मुख्य कार्य चमड़े का व्यवसाय और गाँव की सफाई करना और सवर्णों के यहाँ जाकर मेहनत मजदूरी करना है, लेकिन अब कुछ जातियाँ शहरों की तरफ भी जा रही हैं। बेचैन चमारों के अंदर की भिन्नता बताते हुए चर्चा करते है। "रंगइया, चर्म-शोधक या चर्मकार और भट्टे पर जाने वाले जाटव भूमिहीन थे। जो थोड़ी-बहुत जमीन के मालिक थे, वे न चमड़े का काम करते थे न भट्ठों पर जाते थे। सिर्फ खेती

और मजदूरी करते थे यहाँ की चमारों के दो अलग-अलग मोहल्ले थे। आज भी अलग ही हैं। उनके अलग-अलग कुएँ थे। बारातें भी अलग-अलग ठहरती थीं। वैसे दैनिक जीवन में सब साथ बैठते-उठते थे। इनमें परस्पर खान-पान नहीं होता था। परंतु गैर-दलितों की दृष्टि में वे सब चमार थे।"[26] हिंदू धर्म में परंपराएँ और रूढ़ियां, शोषणकारी तरीके से दलित शोषित हो रहे थे। इसलिए दलित समाज अन्य जगहों पर पलायन कर रहा था और अन्य धर्म को समझ और देख रहा था ऐसे ही बेचैन ने सिख धर्म के विषय में बताया है। "हिंदू धर्म में हमारी जगह क्या थी, कहाँ थी? थी भी या नहीं, यह बात अलग थी। जमीन-जायदाद वालों में ऊंची जाति के सिख थे, और अल्पभूमि या भूमिहीनों में रविदास और मजहबी सिख होते थे। ये छोटी जोत वाले होते थे और अपनी किसानी का काम खुद ही करते थे। इनका रंग ज्यादातर काला होता था। शादी-विवाह उनमें भी भौतिक हैसियत के अनुसार ही होती थे। सिखों में भी जात-पाँत थी पर हिंदुओं जैसी छुआछूत वहाँ हमारे साथ नहीं थी। किसी प्रकार अतार्किक कर्मकांड व पाखंड भी वहाँ नहीं था। मजदूरों की महिलाएँ पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर काम किया करती थीं, बल्कि वे खेतों से हारी-थकी झुग्गियों में आकर खाना बनाती थीं, और कपड़े धोती थीं और उनके बच्चे साथ-साथ काम किया करते थे।"[27]

कौसल्या बैसंत्री ने अपनी आत्मकथा दोहरा अभिशाप में अपने जीवन के विषय में विस्तार से चर्चा की है। आजीविका चलाने के लिए लेखिका के माता-पिता दोनों मिल में काम करते थे। पारिवारिक काम वह दोनों मिलकर किया करते थे, भारतीय सामाजिक मान्यता के अनुसार अगर किसी को बेटी है तो वह बेटे की इच्छा रखता है। कौसल्या बैसंत्री की पाँच बहनें थी, भाई नहीं था। इसी का दुख उनकी माँ को हमेशा होता था। वह हमेशा बार-बार कहा करती थी कि मैंने ऐसा कौन सा पाप कर दिया है कि मुझे इतनी बेटियाँ है। दलित महिलाओं का शोषण दोहरे तरीके से हो रहा था यह कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा में देखने को मिलता है कि एक महिला मिल में काम करने जाती है। उसे अन्य पुरुष छेड़ता और परेशान करता हैं तो वह गुस्से में सीमेंट का एक गोला बनाकर पुरुष को दे मारती है, और घर आ जाती है। अन्य पुरुष देख कर हँसते हैं लेकिन कुछ बोलते नहीं। जब यह पूरी

घटना वह अपने पति को बताती है तो "पति का काम था कि जाकर उस बदमाश को डाँटे-फटकारे। परंतु उसने अपनी औरत को ही डाँटना शुरू किया, मारा और कहने लगा कि और औरतें भी वहाँ काम करती हैं, उन्हें वह कुछ नहीं कहता और तुम्हें ही क्यों छेड़ता है? तुम ही हो यह कहकर उसे रात भर घर के बाहर रखा परिचारी घर के पीछे रात भर डर डर के रही और सवेरे उसे गधे बदचलन हो, यह कहकर उसे रात भर घर के बाहर रखा। वह बिचारी घर के पीछे रात भर डर-डर के रही और सवेरे उसे गधे पर बैठाया गया। बस्ती से बाहर निकालने के बाद वह बेचारी झाड़ी में छिपी रही क्योंकि उसके बदन पर पूरे कपड़े नहीं थे। रात में वह बस्ती में कुएँ में कूद गई। सवेरे उसका शरीर पानी के ऊपर तैर रहा था। उसके माँ-बाप आए और कहने लगे कि हमारी नाक कटवाई, अच्छा ही हुआ कि यह कुलटा मर गई। इस औरत के दो छोटे लड़के थे। एक पाँच वर्ष का दूसरा तीन वर्ष का। उसके आदमी ने छ: महीने बाद दूसरी औरत से शादी कर ली।"[28] भारतीय समाज में सामाजिक इज्जत की जिम्मेदारी एक महिला की ही है। चाहे उसकी कोई गलती हो या फिर न हो। सबसे पहले उसी को ही दोषी ठहराया जाता है। महिलाओं के साथ यह अन्याय पूर्ण कार्य भारतीय समाज की परिपाटी बन चुका है।

मराठी दलित आत्मकथाओं में प्रगतिशीलता के भी विचार दिखाई देते हैं। सवर्ण लड़के ने एक महार लड़की से शादी की घटना अछूत आत्मकथा में मिलती है। "उन दिनों संगमनेर में एक अंतर्जातीय विवाह बहुत चर्चित रहा। दूल्हा ब्राह्मण और दुल्हन महार। लड़की संगमनेर मारवाड़ की थी। शायद उसका नाम हंसा था। हंसों-सी सुंदर। यह प्रेम-विवाह नहीं था। सीधे प्रपोज्ड मैरिज थी। हाईस्कूल में एक ब्राह्मण शिक्षक थे। वे अपनी प्रगतिशील विचारों से पहचानने जाते। नाम देशपांडे। उसने अपने इकलौते बेटे के लिए हंसा का हाथ माँगा। गाँव में खलबली मच गई। कुछ लोगों को शिक्षक विक्षिप्त लगे। कोई कहता, "दूल्हा लड़का टी.बी. से बीमार है। उसे अपनी जाति में कोई लड़की नहीं देता, इसलिए महार की बहू बनाने चला है।" शादी धूमधाम से होती है। कलेक्टर, प्रसिद्ध नेता शादी में आते हैं। पर इसका अंत बहुत दुखद हुआ। एक लड़के को जन्म देकर दूल्हा लड़का चल बसा। हंसा और सफेद माथा लेकर मारवाड़ में वापस आती है।"[29] यह हिंदी आत्मकथा में शादी-

विवाह अपने जाति व अपने समाज में किया जाता है, लेकिन मराठी आत्मकथा में यह सामान्य जातियों एवं मुस्लिम धर्म में भी होता है। इसका प्रभाव डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचार 'रोटी और बेटी के सम्बन्ध' का है।

दलित समाज आजीविका चलाने के लिए किसी भी कार्य को करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इसका उदाहरण यादों के पंछी आत्मकथा में देखने को मिलता है। "गाँव के पटेल के ढेरों को चराने के काम पर मुझे लगा दिया गया। तीन बार भोजन और साढ़े चार रुपये प्रतिमाह वेतन निश्चित हुआ। कुछ दिन मैं यह नौकरी बजाता रहा। मुझे यह नौकरी भा गई थी। क्योंकि बाकी और जूठन ही क्यों ना हो, खाना भरपेट मिल रहा था। पर ढोरों को चराने के बाद उसका गोबर-पानी भी करना पड़ता था। काफी दूर से चारा लाना पड़ता था और उसे बांधकर रखना पड़ता था। इतनी कड़ी मेहनत के बावजूद भी वे लोग (सवर्ण) मुझे खाना कहाँ परोसते थे- बता दूँ आपको? उनके बच्चे जहाँ पेशाब और शौच करते थे- वहाँ मुझे यह सब बहुत खटकता था। पर मजबूरी थी। मैं चुपचाप उस अपमान को सहन कर लेता था।"[30] दलितों के साथ एक सामान्य प्रक्रिया यह रही है कि सवर्ण अपने व्यक्तिगत कार्य सारे कराते हैं। लेकिन जैसे ही उनके कार्य हो जाते हैं। दलितों से छुआछूत करते हैं, उन्हें उनके अधिकारों से वंचित कर देते हैं। भोजन उनका अधिकार है, लेकिन काम कराने के बाद समुचित भोजन न मिलना शोषण है।

मराठी दलित आत्मकथा दलित समाज की जीवन स्थितियाँ हिंदी आत्मकथाकरों के समान ही हैं। शरणकुमार लिंबाले अपनी आत्मकथा अक्करमासी में लिखते हैं कि महार नया वर्ष आने पर अपने-अपने काम बाँट लेते हैं। उन्हें स्थानीय भाषा में पाडेवार (अछूतों का काम) कहा जाता था। "चार परिवारों को कई काम करने पड़ते। महारों की बस्ती की बैठक को लीपना, वहाँ दीया-बत्ती करना। सवर्णों के यहाँ कोई जानवर मर गया हो तो उसे भी खींचकर लाना, काटना, चमड़ा उतरना उसे बेचना। जिनके घर पर जानवर मरता, वे दो किलो ज्वार देते। उस ज्वार को भी चारों में समान रुप में बँटाना पड़ता था।"[31] जब तक दलितों के अंदर खुद से अस्तित्व बोध का अधिकार नहीं उत्पन्न होगा,

तब तक उन्हें यह कार्य बुरा नहीं लगेगा। ह-या का अस्तित्वबोध एक लड़की को देखकर जगा, क्योंकि वह उसे पसंद करते थे। "एक बार गाँव में किसी का बछड़ा मर गया। ह-या उसे उठाने गया। उस वर्ष ह-या के परिवार को 'पड़' का हक मिला था। ह-या कंधे पर बछड़ा लेकर निकला। रास्ते में शोभी गुजर रही थी। उसे देख ह-या बहुत शरमा गया। शोभी ने नाक पर रूमाल रख लिया। ह-या चिढ गया अपने आप पर। कंधे पर लटके बछड़े को रास्ते में ही फेंककर उन्नत मस्तक से निकल जाने की उसकी इच्छा हुई। उसे लगा, यह भी कोई जिंदगी है! मृत जानवरों को उठाओ, उसे काटो, खाओ। छि:! ह-या को पहली बार अपने अस्तित्व का एहसास हुआ। ऐसे गंदे कामों के प्रति पहली बार उसे तिरस्कार महसूस हुआ।"[32]

बेबी कांबले अपनी आत्मकथा में बताती हैं कि मराठी महिलाएँ पुरुषों के साथ काम-धंधे में लगी रहती हैं। परिवार चलाने में उनका सहयोग करती हैं। कभी-कभी यह औरतें बिना पुरुषों के भी अपने पूरे परिवार को चलाने के लिए मेहनत-मजदूरी किया करती हैं। 'जीवन हमारा' में महिलाएँ जंगल से लकड़ी काटकर लाती है, और सिर पर रखकर पूरे गाँव में बेचती हैं। "ये औरतें लकड़ी के गट्ठर लेकर ग्वालों, बुनकरों, प्रजापतियों, तेली-तम्बोलियों के मोहल्ले में घूम-घूमकर ब्राह्मणों के मोहल्ले में आतीं। ज्यादातर लकड़ियाँ ब्राह्मणों मोहल्ले में ही बिकती थीं। डोम की परछाई तक अपने घर में ना पड़े, इसलिए ब्राह्मणों का आँगन छाती जितना ऊँचा होता। आँगन ऊँचा होने की वजह से डोम उनके दरवाजे तक नहीं आ पाते। आँगन के बाहर खड़े होकर ही दो डोम औरतें पूछा करतीं- 'माई, डोमनी लकड़ी लाई है बेचने को।'"[33]

उचक्का आत्मकथा लक्ष्मण गायकवाड अपने समाज के लोगों के आजीविका चलाने के साधनों के विषय में बताया है कि उन्हें कोई भी काम नहीं दिया जाता था। उनके समाज के लोगों को चोरी करने प्रेषित प्रेरित किया जाता था। "पुलिस जब भी आती बिना किसी वजह चोरी का आरोप लगाती। न मोल- मजदूरी मिलती, न कोई काम हमें मिलता। उल्टे पुलिस को पैसे देने पड़ते। इस तरह चोरी करने के हालात पुलिस तैयार करती। साहूकारों से कर्ज लो, पुलिस को दो और कर्ज वापिस

करने के लिए चोरी करते रहो। इस दुश्चक्र से हमें कब मुक्ति मिलेगी? दादा अण्णा, भाऊ केवल इसी कारण चोरी करते थे। इन तीनों के बीच मेरी माँ की हालत बहुत विचित्र हो जाती। उठाईगीरी की जाति में जन्मा हूँ और दादा, अण्णा का छोटा भाई हूँ, इसलिए पुलिस मुझे भी पीटती थी। निरपराधी माँ भी इसी कारण पीटी जाती है। ऐसी स्थिति में स्कूल जाने पर बच्चे शोर मचाते, "चोर आया रे, चोर!""[34] लक्ष्मण गायकवाड बताते हैं कि किसी भी प्रकार की जमीन न होने पर वह खेती भी नहीं कर सकते थे। चोरी का इल्जाम पूरे समाज पर लगता था इसलिए कोई भी इन्हें अपने यहाँ काम पर नहीं रखता था। इनके सामने चोरी के अलावा कोई भी रास्ता नहीं बसता, शिक्षा को लेकर इनके समाज में जागरूकता बहुत कम थी इसलिए लोग शिक्षित भी नहीं थे। परिवार और घर चलाने में बहुत ही दिक्कतों का सामना करना पड़ता था। "भाभियाँ मुझसे जलती थीं। वे मुझसे ऊबने लगीं। कहती, "पढ़ाई और पोथी-भजन में क्या रखा है? या तो चोरी करनी चाहिए या कोई मजबूरी। या तो पढ़ाई के लिए जाता है। कहीं यह मास्टर तो नहीं होने वाला।" भाभी रोज सबेरे खिचड़ी पकातीं। अनाज के दानों को कूटते समय कुछ आटा निकलता था। स्कूल जाते समय उसे आटे की रोटी बनाकर मुझे देती। अर्थात कभी-कभार ही। कभी कहती कि आज रोटी नहीं बन सकी है। खिचड़ी खाकर जाओ और साथ में खिचड़ी लेकर जाओ। भाइयों को अगर यह सब कहता तो बाद में वे मुझे पीटतीं। खाना ठीक से न परोसतीं। कई बार तो खाना ही नहीं देतीं। भाभियाँ आपने-अपने पतियों की फिक्र करतीं, उन्हें ठीक से परोसतीं। हरचंदा कभी-कभार चोरी करने जाता, साड़ियाँ या तेल के डिब्बे ले आता, तो उसकी ओर भी ठीक से देखतीं।"[35] दलित समाज में आर्थिक समस्याएँ हमेशा से रही हैं। उसका सीधा का प्रभाव उनके भोजन पर पड़ता है। वह रोज मजदूरी करते हैं और मजदूरी करने के बाद खाना मिलता है। लेकिन यहाँ पर मजदूरी तो नहीं मिलती तो चोरी को अपना व्यवसाय बना लिए हैं। लेखक पढ़ना-लिखना चाहता है जिससे उसके परिवार के लोग उससे नाखुश हैं। यह भी चोरी करे या मेहनत मजदूरी करे जिससे घर में दो पैसा आए जिससे घर की आर्थिक स्थिति ठीक हो सके। उसी के कारण लेखक को अपने परिवार में उपेक्षित किया जाता है। उचक्का आत्मकथा में दलित समाज की बहुत ही

दु:खद स्थितियों को मिलाती है, जिसमें उनके पास खाने के लिए कुछ भी नहीं है लेकिन फिर भी पुलिस आती है, उनके घर के सामान को उठाकर ले जाती है। "लातूर के निकट पारधियों का एक तंबू था। हीराबाई काले नामक एक पारधी स्त्री की प्रसूति हुई थी। प्रसूति के बाद घर पर खाने के लिए कुछ नहीं था। चोरी के आरोप में पति जेल में था। हीराबाई काफी परेशान हो गई। दो दिन उसने पानी पर निकाले। अंतत: मजबूर होकर उसने अपने परिवार- नियोजन का ऑपरेशन करा लिया। ऑपरेशन से दो सौ रूपये मिले। उससे उसने आधा थैला जवार खरीद लिया। उसी समय पड़ोस के एक किसान की जवार की फसल चोरों ने काट ली। पुलिसवालों के पास उसने शिकायत दर्ज की। पुलिसवालों को चोर का पता नहीं लग रहा था। जब पुलिस को गुनाहगारो का पता नहीं चलता, तो वे सीधे पारधियों की बस्ती में जाते हैं। वहाँ 'टाकमुद्या' कर किसी को भी पकड़ लेते हैं। अपनी इस आदत के अनुसार उन्होंने पारधियों की तलाशी लेनी शुरू की। तब उस औरत की पाल में उन्हें जवार का आधा थैला मिला। पुलिस पूछने लगी कि तेरे घर में जवार का यह आधा थैला कहाँ से आया। तब हीराबाई गिडगिडाने हुए कहने लगी, "साहब, जब प्रसूति हुई तब खाने के लिए कुछ नहीं था, आपकी कृपा से पति जेल में है। इस कारण मजबूरी में मैंने बच्चा न होने वाला ऑपरेशन करा लिया। वहाँ से दो सौ रूपये मिले। उसी से मैंने ज्वारी का आधा थैला खरीद लिया। साहब, मेरी छाती में दूध नहीं आ रहा था, इसलिए मैंने यह जवार खरीद ली।""[36] प्रसूति अपने ऑपरेशन का प्रमाण पत्र भी पुलिस को दिखाती है, लेकिन पुलिस यह मानने को तैयार नहीं है। वह उसे चोर साबित करती है, उसका आधा थैला जवार ले कर चली जाती है। अंग्रेज सरकार ने इन जनजातियों को जन्मजात अपराधी की सूची में डाल दिया था और इन पर चोरी का इल्जाम लगा दिया था। भारत सरकार के लोगों का रुख जनजातियों पर अंग्रेजों जैसा ही है।

उर्मिला पवार बताती हैं कि जब भी कोई तीज-त्यौहार या पर्व होता था तो दलित सवर्णों के यहाँ खाना माँगने जाती थी। जिससे वे भी त्यौहार मना सकें। यह सामाजिक व्यवस्था थी कि त्यौहार के पकवान माँगने उन्हीं के घर जाया करते थे जिसके घर काम करते, सेवा करते हैं। "रात के जागरण

के बाद स्त्रियों में गजब का उत्साह होता था। सबको जल्दी पड़ी होती कि घर जाकर जल्दी-जल्दी भाकरी बनाकर ब्राह्मणों और मराठों के घर त्योहार के पकवान माँगने जायें। साल भर सब ने गाँव की खूब सेवा की होती, सो  आज सेवा के बदले कुछ पाने का दिन था। कोई कहती कि पिछले साल उस अमुक-अमुक के मिर्ची के पौधों को मैंने बबूल की बाड बना दी थी और उस राँड ने मुझे धेला भी नहीं दिया था पर आज मैं उसे छोडूँगी नहीं। अच्छा दो-तीन दिन के लिए खाना माँग कर लाऊँगी...। बाकी सभी का यही हाल होता था।  कोई मेहनत-मजदूरी कर के बिना मुआवजा पाये बैठा होता था। इसके अलावा महारों के खास काम जैसे, ढोल बजाना, संदेशा पहुँचाना, मरे जानवर उठाना, आदि काम करने वाले तो पूरे अधिकार से माँगते थे।"[37] दलित समाज जिनके यहाँ काम करते उसके एवज में वह त्यौहार के अगले दिन खाना माँगने जाते। कभी-कभी सवर्ण उनका अनादर भी करते है और पिछले साल उन्हें कुछ भी नहीं दिया थे। फिर भी वे उनके घर जाते हैं और माँग कर लाते। आत्मकथा में महिलाओं की स्थिति के विषय में भी उर्मिला पवार ने लिखा है, विधवा स्त्री के गर्भ धारण कर लेने के पश्चात पंचायत का फैसला ही मान्य होता और उसे शारीरिक यातनायें भी दी जाती। "उन दिनों की बात है जब मैं नौवीं-दसवीं में पढ़ती थी। गाँव की औरतों से सुना था की एक विधवा के पाँव भारी हो गए थे। सब जानते थे कि गर्भ किस से है। गाँव द्वारा उसे आदेश दिया गया कि वह गर्भ गिरा दे लेकिन वह नहीं मानी। इस पर नौ गाँव के 'महाल' में उसका फैसला किया गया और 'महाल' की सजा के मुताबिक उसे औंधें खड़ा कर अन्य स्त्रियों के द्वारा उसके पार्श्व पर लातें लगवायी गयी। इस प्रक्रिया में जब उसका गर्भपात हुआ तभी गाँव के लोगों के सम्मान की रक्षा हो सकी, उन्हें उसकी मर्दानगी का सबूत मिल सका।

एक दूसरी गर्भवती स्त्री, अपने पति को दूसरी औरत से नाजायज संबंधों की शिकायत करने जब पंचों के पास गयी तब उसे भी यही सजा दी गयी थी। बाकी स्त्रियों के ने बड़े ताव में आकर उसके ऐसी लातें जमायी कि उसका आठ माह का गर्भ पेट में ही मर गया और सात-आठ दिन बाद वह स्त्री भी मर गयी। सचमुच यह कैसी विडंबना है कि इंसानियत की हत्या करने वाले इन इज्जतदार जीवों के

बीच औरत के जिस्म में ही पलते हैं और बड़े होकर, इज्जतदार बनकर, उसी को का फैसला करते हैं, जिसने अपना रक्त देकर उन्हें पाला था।"[38] दलित समाज में जहाँ पुनर्विवाह, विधवा विवाह देखते हैं वहीं पर उनके द्वारा पंचायत के फैसलों में स्त्रियों को प्रताड़ित किया जाता है, इसके भी रूप दिखाई पड़ते हैं। महिलाओं की स्थिति कमोवेश दलित समाज में बहुत दयनीय हैं। उन पर समाज, पति और उनके परिवार के द्वारा दोहरा शोषण किया जाता रहा है। दलित पुरुषों के साथ सामाजिक शोषण ही देखने को मिलता है। दलित समाज में दलित पुरुष भी पितृसत्तात्मक सत्ता की तरह ही व्यवहार करता हैं, वह अपनी पत्नी के साथ सामंतवादी जैसा ही व्यवहार करते हैं। "जयराम पेट पकड़कर कुएँ के पास इधर-उधर ताककर 'अरे बाप रे' कहकर चिल्ला रहा था। वह कुछ भी काम-धंधा नहीं करता था और अपनी औरत रामकुँवर की कमाई पर ही जी रहा था। उसकी औरत मिल में काम करती थी और उसे एक बिल्लू नाम की छोटी लड़की थी। जयराम सारा दिन जुआ खेलता था। पत्नी के घर आने से पहले पेट पकड़ कर बैठ जाता था और बहाना करता कि पेट में बहुत दर्द हो रहा है। कुएँ पर जाकर कहता कि दर्द सहन नहीं होता, कुएँ में कूदकर मरेगा। लोग उसको पकड़कर घर लाते। वह बीच-बीच में रोते-रोते कुएँ की तरफ भागता था। बाद में लोगों ने उसको घर छोड़ दिया। तब वह घर में ही चीखता-चिल्लाता था। कोई उसकी ओर ध्यान नहीं देता था। वह ज्यादातर नाटक ही करता था। पगार मिलने के दिन मिल के फाटक के पास खड़ा रहता और अपनी बीवी के आधे पैसे झपट कर छीन लेता था। उस पैसे को जुए और शराब में उड़ा देता था। रामकुँवर चुपचाप सह लेती थी।"[39] जयराम के ऐसा बर्ताव करने के कारण उसकी पत्नी रामकुँवर किसी एक अन्य मिल के कर्मचारी से प्रेम करने लगती है। उसकी पत्नी आकर रामकुँवर को बहुत भद्दी भद्दी गालियाँ देती हैं। रामकुँवर बाद में कहती है कि तुम अपने पति को जाकर यह बात क्यों नहीं करती हो जबकि तुम्हारा पति भी तो मुझसे इश्क करता है। इस पर वह महिला कहती है कि मैं देख लूँगी। अगर तुम्हारा पति दूसरे से प्रेम करता है तो तुम अपने पति को क्या कहती हो? इस पूरी घटना से यह दिखता है कि भारतीय समाज का दोहरा शोषण है वह महिलाओं को अपना शिकार बना रहा है। दलित के साथ-साथ पितृसत्तात्मक समाज उससे

इनका शोषण अधिक हो रहा है। लक्ष्मण गायकवाड की उचक्का आत्मकथा में बच्चों की खरीदारी के भी प्रसंग मिलते हैं, एक धोबी जिसकी पत्नी उसे छोड़ कर चली जाती है और दो बच्चे रह जाते हैं तो अपने दोनों बच्चों को बेच देता है। यह घटना उठाईगीरी समाज में सामान्य है। लक्ष्मण गायकवाड ने अपने समाज के विषय में लिखा है कि "इसी कारण कई बार मैं सोचता हूँ कि स्वतंत्रता के 40 वर्षों के बाद भी हमारे लोगों को पेट-भर खाना नहीं मिलता, हाथों को काम नहीं दिया जाता, तन के लिए कपड़ा नहीं मिलता, इस कारण यह लोग अपने बच्चों को बेचकर अपनी जरूरतें पूरी कर लेते हैं। अगर स्वाभिमान से जीना असंभव हो रहा हो तो इस स्वतंत्रता का उपयोग ही क्या है? आगे ऐसा ना हो, इसलिए कुछ करने-धरने के विचार मन में आते हैं। अपनी बिरादरी में मैं जब भी जाता हूँ और ऐसी घटनाओं का मुझे पता चल जाता है, तब मैं परेशान हो जाता हूँ। अपने समाज का यह चित्र देखकर ही मैं 'पाथरूट समाज संगठन' की ओर से शिक्षण संस्थान खोलने की कोशिश करने लगा। अनेक दिशाओं से प्रयत्न करने के बाद 1979 में कवठा में विमुक्त जनजातियों की शिक्षा संस्था को रजिस्ट्रेशन मिल गया। सोचा कि अपने समाज के कुछ बच्चों को ही उठाईगीरी से बचा सकूँगा। उस्मानाबाद शहर में छात्रावास की मान्यता मिले, इसके लिए समाज-कल्याण विभाग में मैंने अर्जी भिजवा दी।"[40]

भारतीय समाज में सभी धर्म और जाति के लोग निवास करते हैं। उनकी अपनी मान्यताएँ, परंपराएँ है। दलित आत्मकथा में जाति एवं धर्म के आधार पर विषमता फैली थी, उसका उजागर इन आत्मकथाओं में किया गया। मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा अपने-अपने पिंजरे में बताते हैं कि उनके बाबा ने उन्हें बताया कि वह न मुस्लिम है न हिंदू वह चमार है। "अब मेरा सवाल था- "बा, यह मुसलमानों को क्यों मारते हैं?" "क्योंकि वह हिंदू हैं।" बा का उत्तर था। "और हम कौन हैं?" मेरा अगला सवाल था। "हम चमार हैं।" बा बोला। "पर क्या चमार हिंदू नहीं होते?" मैंने फिर पूछा था। बा ने जवाब देने से पूर्व पलभर मेरी ओर देखा था, फिर कहा-"चमार चमार होते हैं। न हिंदू न मुसलमान।""[41] नैमिशराय का परिवार मेरठ में निवास करता था उसके बगल में मुस्लिम समुदाय के

लोग रहते थे। दंगा होने पर मुसलमान हिंदू को मारते थे और हिंदू मुसलमानों को। एक बार इनके यहाँ दंगा हुआ, तो दंगे के उपरांत जब यह  स्कूल गए। तो अध्यापक एक दूसरे से बात करते हैं कि तुमने कितनों को मारा। उसी के संदर्भ में अपने बा से यह सवाल पूछते हैं उन्हें यह पता चलता है कि दलित न हिंदू होता है न मुसलमान होता है। अपनी आत्मकथा में आगे बताते हैं कि एक बार वह अपने भैया के साथ रिश्तेदार के यहाँ जा रहे थे। उनको रास्ते में प्यास लग गई। पानी के लिए एक घर पर पूछा, तो भैया ने अपने गंतव्य स्थान का नाम एवं व्यक्ति का नाम बताया। तो उन्होंने चमार जाति जानते ही डांटते हुए कहा ‘‘‘तो म्हारे घर अग्गे कियों खड़े हो? जाओ सीद्दे-सीद्दे, आगे चमारों के ही घर पड़ेंगें पैले।’’ पहले वे साँप की तरफ फुँफकारे थे। ‘‘हमें पानी पिला दो, बड़ी प्यास लगी है।’’ भैया के स्वर में गिड़गिड़ाहट के भाव थे। ‘‘म्हारे घर चमारों की खातिर पानी ना है।’’ उन्होंने इंकार कर दिया था। उनके मना करने पर प्यासे मेरा गला और भी खुश्क हो चला था। आँखों में गर्मी और धूल-मिट्टी के कारण चिरमिराहट-सी लगने लगी थी। मुझे जैसे किसी ने रेगिस्तान के बीच में लाकर पटक दिया था। ‘‘आगे झोड़ है, वईं मिल जागा पानी-वानी तमै।’’ हमारी तरफ से हिकारत से देखते हुए कहा था उन्होंने।’’[42] दलितों को पानी पिलाने के नाम पर उनको पानी नहीं दिया जाता था और तालाबों का गंदा पानी पीने के लिए विवश किया जाता था। जिसको पीकर लोग बीमार भी पडते थे। उन तालाबों में देखेंगे तो ग्रामीण के जानवर भी रहते हैं। वही का पानी पीते हैं दलितों की स्थिति भी जानवरों से बदत्तर दिखाई देती है। मोहनदास नैमिशराय अपनी इंटरमीडिएट की परीक्षा पास कर लेने के बाद होमगार्ड ऑफिस शिविर में जाकर रहने लगते हैं। वहाँ पर जाति के आधार पर रसोईये द्वारा अपमानित किये जाने की पूरी घटना विस्तार पूर्वक बताते हैं। ‘‘शिविर में पहले ही दिन एक घटना हो गयी। हम दो-तीन साथी रसोई में चले गये। और वहाँ क्या बना था, कैसा बना था, इसकी जाँच-पड़ताल करने लगे। बनी हुई सब्जी के वहाँ बड़े-बड़े बर्तन रखे थे। दो आदमी रोटियाँ बेल रहे थे और एक आदमी चूल्हे पर वहीं रोटियाँ सेंक रहा था। मैंने एक टब को उघाड़ कर जैसे ही भीतर रखी सब्जी देखनी चाही रसोइए ने इसका एतराज उठाते हुए गुस्से में कह दिया, ‘‘न जाने तुम लोग कहाँ से आए हो, कौन हो। सब्जी का

बर्तन ही छू दिया।" हमें भी गुस्सा आ गया। हमने लगभग चिल्लाते हुए कहा, "हम चमार हैं और इसी शहर से ही आए है।" "तब तो और भी गड़बड़ हो गया।" रसोईया उफनाते हुए बोला। "क्या गड़बड़ हो गया?" हमने भी उफनते हुए पूछा। "यही की सब्जी खराब हो गयी।" वह तत्काल बोला। "कैसे खराब हो गयी?" हमारे स्वर गर्म थे। "राम, राम, राम..., सब कुछ भरस्ट हो गया। हमें क्या मालूम था कि....।" उसकी बात बीच में ही रह गई थी। जब हमने जोरदार आवाज में पूछा, "क्या बोला....।""[43] जब लेखक ने इसका विरोध दर्ज कराया, तो वहाँ के सुपरवाइजर आते हैं और छात्रों के विरोध के बाद उस रसोईये को वहाँ से बाहर कर देते हैं। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में तो दलितों के छूने मात्र से ही कैसे कोई वस्तु या भोजन खराब हो सकते हैं, लेकिन यह मान्यताएँ चली आ रही थी कि दलित समाज का कोई भी व्यक्ति अगर छू लेता है या स्पर्श कर लेता है तो वह खराब हो जाएगी या अपवित्र हो जाती है।

ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा जूठन अपनी चूहड़ जाति के विषय में बताते है। एक बार अपने अध्यापक के यहाँ जाते हैं और आने के लिए अध्यापक आमंत्रित करते जाता है तो वह आ जाते हैं। खाना खाने के बाद एक वृद्ध व्यक्ति उनसे पूछता है कि "व्यक्ति ने हम दोनों के विषय में बुजुर्ग से पूछताछ शुरू कर दी। बरला से आए हैं, सुनते ही उसने सवाल दागा था, "कौन जात है?" उसके सवाल का उत्तर दिया मैंने, "चूहड जात है।" उन दोनों के मुँह से एक साथ निकला था, "चूहड़ा?" बुजुर्ग ने चारपाई के नीचे पड़ी लाठी उठाकर तड़ से मार दी थी, भिक्खूराम की पीठ पर। हाथ तगड़ा था। भिक्खूराम बिलबिला गया था। बुजुर्ग के मुँह से अश्लील गालियों की बौछार होने लगी थी। आँखें भयानक लग रही थीं। दुबले-पतले शरीर में शैतान उतर आया था। उनके बर्तनों में आदर के साथ बैठकर खाना खाने, चारपाई पर बैठने का दु:साहस किया था, जो उसकी नजर में अपराध था। मैं सहमा हुआ चबूतरे से नीचे खड़ा था। बुजुर्ग चिल्ला रहा था। जिसे सुनकर भीड़ जमा हो गई थी। कई लोगों की राय थी। रस्सी से बांधकर दोनों को पेड़ से लटका दो।"[44] भारतीय समाज के अतिथि सत्कार की कलई खुल गई। दलित समाज को सेवा सत्कार पाने का अधिकार ही कहा था।

किसी तरह वह लोग वहाँ से बचकर जाते है। अस्पृश्यता का ऐसा माहौल है कि गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली छू जाने या घर में आ जाने पर कोई दिक्कत नहीं होती लेकिन अगर वही दलित व्यक्ति उनके घर में आ जाता है तो सब कुछ अपवित्र हो हो जाता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि के अंदर शिक्षा के प्रसार के बाद से विद्रोह या विरोध के स्वर भी जन्म लेने शुरू हो गए थे। वह अपने गाँव के ही फौज सिंह त्यागी के यहाँ काम करने जाते हैं। काम के उपरांत उन्हें रोटी खाने के लिए बुलाया जाता है। "उनके आवाज देने से, मैं उनके पास आ गया था। उन्होंने रोटियाँ मेरे हाथ पर बहुत ऊपर से छोड़ी थीं। कहीं उनका हाथ मेरे हाथ छू न जाए। यह तरीका मेरे लिए अपमानजनक था। मैंने वे रोटियाँ उनके सामने फेंक दीं और घर की ओर दौड़ पड़ा। फौजा मुझे मारने दौड़ा था। लेकिन पकड़ नहीं पाया।"[45] इस घटना का पता जब गाँव में चला। तो गाँव वालों ने भी बेगार करने से मना कर दिया। एक बदलाव की पहली किरण थी। ओमप्रकाश वाल्मीकि जब ऑर्डिनेंस फैक्ट्री में जाते हैं तो उस समय की सामाजिक घटना देखने को मिलती है। मराठी ब्राम्हण वह भी पूना के ब्राह्मण महारों को अपने बर्तन छूने नहीं देते। कुलकर्णी परिवार में वह अपने मित्र सुदामा पाटिल के साथ जाते हैं तो उन्हें पढ़े-लिखे व्यक्तियों के सामाजिक भेदभाव का पता चलता है। "कल याद उन्हें पता चल जाए..., तो....? मैंने शंका व्यक्त की। "तो दोषी तुम कैसे हो गए? ...उन्होंने भी तो पूछा नहीं... तो हम अपने ओर से ढिंढोरा पीटें? हाँ, यदि वे पूछते और तुम झूठ बोलकर उनके दायरे में शामिल हो जाते तब तुम्हारा दोष माना जा सकता था.... वह भी झूठ बोलने का।" पाटिल ने दृढ़ता से कहा।"[46] वाल्मीकि सरनेम होने के कारण महाराष्ट्र में मुझे ब्राम्हण समझा जाता था इसलिए ब्राह्मण परिवार अपने यहाँ खाने-पीने में बुलाता था। ओमप्रकाश वाल्मीकि अपने जाति को नहीं बताते थे क्योंकि कोई पूछता भी नहीं थे। लेकिन बाद में ओमप्रकाश वाल्मीकि की जाति पता होने पर उन्होंने इनसे संबंध खत्म कर लिया। वाल्मीकि जब नौकरी प्राप्त कर लेते हैं तो वह कमरे के लिए इधर-उधर भटकते हैं, उन्हें कमरा नहीं मिलता है। अपने मित्र अनिल के साथ कई जगह कमरे के लिए जाते हैं। उन्हें यह उत्तर मिलता है कि हम किसी दलित और मुसलमान को घर नहीं देते हैं। अनिल इन बात से गुस्सा हो जाता, तो वाल्मीकि

उसे शांत रहने के लिए कहते हैं। "अनिल, इन सवालों को आप लोग आप सुन रहे हैं लेकिन भाई, हम तो पैदा होते ही इसे सिर्फ सुनते ही नहीं इनकी ज्यादतियों को भी सहन करते हैं क्योंकि इनको यह सब घुट्टी में पिलाकर बड़ा किया गया है, ये सब देवभूमि के देव-पुत्र हैं, भला मनुष्यों की इनके मन में क्या इज्जत होगी। इसलिए शांत रहो, समय बदलेगा, तुम्हारे जैसे लोग भी तो हैं इसी देश में, जो एक वाल्मीकि के लिए दर-दर भटक रहे हैं। मुझे उनकी जरूरत नहीं है। मुझे तुम जैसे लोगों की जरूरत है जो मेरे अपमान को अपना अपमान समझते हैं।"[47] निम्न वर्ग का कोई भी व्यक्ति अगर शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद नौकरी के लिए निकलता है तो उसके सामने सबसे बड़ी समस्या रहने की आती है। दलितों को कोई कमरा देने के लिए तैयार नहीं होता है। हाँ, कुछ लोग अनिल भारद्वाज जैसे भी हैं जो उनका सहयोग करते हैं। कमरा दिलाने और सारी वस्तुस्थिति को ठीक करने में मददकरते है। लेकिन अनिल भारद्वाज जैसे  लोगों की संख्या अभी भी समाज में बहुत कम है। तुलसीराम अपनी आत्मकथा मणिकर्णिका में भी बी.एच.यू. में पढ़ने के दौरान कमरे को लेकर दिक्कतों का सामना करते हैं। उसी समस्याओं का उल्लेख करते हैं। "गौरीगंज में भी एक अन्य मकान में एक बड़ा कमरा दस रुपए मासिक किराए पर लिया। उन दिनों दलितों को गैरदलित लोग किराए पर बनारस में मकान नहीं देते थे। अत: जो भी दलित किराए पर कमरा लेते थे, वे अपनी जाति छिपा देते थे। गौरीगंज में जो कमरा हमें मिला, उसे मुन्नी लाल ने तय किया था। मकान मालकिन थी राजवंती चाची, जो जाति से तेली थी, किंतु भेदभाव में उनके सामने कट्टर ब्राह्मण भी कहीं नहीं ठहरते थे। राजवंती चाची ने हम लोगों की जाति शुरू में ही पूछ ली थी। मुन्नी लाल ने उसे बताया था कि वह स्वयं कायस्थ हैं और मेरे बारे में कहा था कि मैं उत्तरकाशी का तुलसीराम शर्मा यानी ब्राम्हण हूँ। हम दोनों उस कमरे में रहने लगे। तपसीराम एक महीने बाद आने वाले थे। राजवंती चाची मांस मछली आदि पकाने पर भी पाबंदी लगा चुकी थी। अभी महीना भर बीता नहीं था कि एक दिन मेरे एक नए सपाठी मिर्जापुर निवासी राम जनम जो दलित ही थे, हम लोगों से मिलने उस मकान में आए। हम लोग मकान पर नहीं थे। राजवंशी चाची ने उनकी जाति पूछ ली। राम जनम ने ईमानदारी से बता दिया कि वह चमार हैं। फिर चाची ने मुन्नी

लाल और मेरी जाति बताने के लिए उनसे कहा। उन्होंने एक बार फिर ईमानदारी से काम लिया।"[48] जाति जानने के बाद राजवंती चाची ने उन्हें घर से निकाल दिया और बुरा भला भी कहा। ऐसी घटनाएँ दलित समाज के साथ हमेशा होती रही है। उस समय लिखने-पढ़ने या काम करने के लिए शहरी क्षेत्र में आया करते थे। शहर में पढ़ने या काम करने के लिए लोग इधर-उधर कमरा ढूंढना उनके लिए ज्यादा कष्टकारी होता था। क्योंकि उन्हें बार-बार यह आभास कराया जाता था कि आप निम्न जाति के हैं। आपका समाज में कोई अधिकार नहीं है। तुलसीराम ने आगे लिखा है कि "इस तरह जुलाई 1966 से जुलाई 1967 तक का एक साल बड़े दुर्दिनों में बीता। जातिगत यथार्थ के कारण बार-बार नए कमरे की तलाश में मैं दोहरा जीवन जीने लगा था। मैं विश्वविद्यालय में दलित होता था और शहर के कमरे में आते ही 'शर्मा जी' बन जाता था। हर रोज जातीय परिवर्तन मुझे बहुत खटकने लगा। भदैनी के जिस मकान में भारत नाथ शुक्ला जी के साथ में रहता था, उस मकान का मालिक एक साधु था। शुक्ला जी बताते थे कि साधु बनिया गुप्ता है, किंतु दाढ़ी बढ़ाकर मकान पर कब्जा कर लिया है और किराये की कमाई पर जिंदा है जबकि पूजा पाठ से उसका कोई मतलब नहीं है। हकीकत भी यही थी, उन्हें मैंने कभी पूजा करते या मंदिर जाते नहीं देखा। साधु बाबा भी किसी दलित को मकान किराए पर नहीं देते थे। शुक्ला जी बार-बार मुझे 'शर्मा जी' बने रहने की सलाह देते रहते थे। शुक्ला जी हद से ज्यादा जातिवाद के विरोधी थे, इसलिए बी.एच.यू. में उनके अधिकतर दोस्त दलित ही हुआ करते थे।"[49] तुलसीराम और ओमप्रकाश वाल्मीकि ने शहरी में जातिगत विवेचना की है। वह एक जैसी दिखाई देती है। शहरों के कुछ व्यक्ति हैं जो इस जातिवाद को खत्म करना चाहते हैं, लेकिन अभी सामाजिक चेतना के रूप समाज में व्याप्त नहीं है। एक व्यक्ति के रूप में यह जो पढ़े-लिखे शिक्षित व्यक्ति हैं, उन्हीं व्यक्तियों में यह चेतना जागृत हो रही है। तुलसीराम उस समय कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता के रूप में विश्वविद्यालय में जाने जाते थे, इसलिए उन्हें जगजीवन राम भी कहके बुलाया जाता था। यह एक जातिवादी मानसिकता का द्योतक है। गोरखनाथ पांडे से तुलसीराम की अच्छी मित्रता थी, एक बार तुलसीराम की जाति मकान-मालिक को पता चल जाता है, तो मंदिर के लोगों ने

नहीं दौड़ा लिए तो गोरखनाथ पांडे ने ही इन्हें बचाया था। मंदिर के पुजारियों को बहुत बुरा भला कहा था। इसके बाद वह भी वहाँ से कमरा छोड़कर दूसरे मठ में चले गए थे। जहाँ केवल ब्राह्मणों को रहने के लिए दिया जाता था लेकिन खासियत यह थी कि अन्य जातियों को मना भी नहीं किया जाता था।

दलित समाज ने इस जातिगत व्यवस्था को अपना भाग्य ही समझ लिया था। जाति के आधार पर उनको काम दिए गए थे। वह उन्हें अपना काम समझते थे। जिसका उदाहरण 'शिकंजे का दर्द' सुशीला टैगोर की आत्मकथा में देखने को मिलता है। "नानी की जिंदगी के दिन बस ऐसे ही कष्ट में बीतते रहे। गालियों और अपमान के भय से डरते-डरते उसे आदत हो गई थी। अपनी इस आदत को उसने अपना कर्तव्य मान लिया था। जाति और कर्म के आधार पर बने इस घेरे को तोड़ना संभव नहीं था क्योंकि विरोध और विद्रोह से परिचित नहीं था। यह चिंगारी हृदय में कभी जागने नहीं दी गई। लेकिन वह हमसे अक्सर कहती थी- "जैसे कृष्ण ने कंस को मारो, जैसे नरसिंह ने हिरनाकश्यप का पेट फाडों, वैसे ही कोई जरूर पैदा होयगो जो जांत-पांत बनाने वालों को ऊँच-नीच की बात बताने वालों को सबक सिखायेगी। वही हमें न्याय दिलायेगो, हमको भी ऊँचे आसन पर बैठायेगो, अपमान की जिंदगी से निकालकर सम्मान दिलायेगो।"[50] दलित समाज इन कामों को अपना भाग्य समझकर करता था। वह आशावादी भी था कि कोई ना कोई जरूर आएगा, जो उन्हें इन कष्टों से दूर करेगा। लेकिन समस्या यह है कि यह भी एक प्रकार से ब्राह्मणवाद की ही विचारधारा दिखाई देती है। सब कुछ समय पर छोड़ देना और व्यक्ति को अपने अधिकार और अपने कर्तव्यों को लेकर सजग न रहना इन आशावादी विचारों में दिखाई देता है।

दलितों को पानी पीने के लिए भी बहुत मशक्कत करनी पड़ती थी। तालाब से पानी पीने के लिए डॉ. भीमराव अंबेडकर ने आंदोलन भी चला था। दया पवार अछूत आत्मकथा में बताते हैं कि भगवान पर महारों की छाया पड़ जाने पर भगवान भी अपवित्र हो जाते हैं। "पानी लेने के लिए आते-जाते महार स्त्रियों की छाया हनुमान पर पड़ती। भगवान अपवित्र हो जाते हैं, इसलिए गाँववालों ने एक बार रास्ता बंद कर दिया। कुएँ पर यदि दूसरे रास्ते से जाना हो तो तालाब के किनारे-किनारे कीचड़-से

लथपथ होकर जाना पड़ता, एक मील तक। यह रास्ता महारों के लिए खुल जाए, इसलिए महारों ने संघर्ष किया। कोर्ट-कचहरी हुई। 'हम अपनी राह नहीं छोड़ेंगे। यदि आप आवश्यक समझे तो हनुमान की स्थापना दूसरी ओर कीजिए।' इस प्रकार आक्रामक पैंतरा महारों का होता। यह विवाद जब चल रहा था तो एक चमत्कार ही हुआ। इसी दौरान तालुके में एक ईसाई तहसीलदार आया। यह ईसाई तहसीलदार कोई और नहीं, वह पहले का महार ही था। महार लोगों की व्यथा उसने भोगी थी। उसके मन में यह तय किया कि महारों के साथ न्याय होना चाहिए। महार यदि ईसाई हो जाता तो उससे गाँव अपवित्र ना होता और यदि ईसाई आदमी ऑफिसर है तो बात ही निराली। सारा गाँव उसकी सेवा में हाजिर।"[51] दलितों के धर्म परिवर्तन कर लेने के बाद भी उनसे अछूतों जैसा व्यवहार किया जाता था। लेकिन कहीं-कहीं यह व्यवस्था देखने को नहीं मिलती है। दलितों में मुस्लिम और ईसाई धर्म परिवर्तन इन आत्मकथा में देखने को मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि दलित समाज के केवल साफ कपड़े न पहनना या साफ-सफाई से न रहने के कारण ही उनके साथ अछूतों जैसा व्यवहार होता था। जाति के नाम पर ही उनके साथ अछूतों जैसा व्यवहार किया जाता था। इसका उदाहरण 'यादों के पंछी' आत्मकथा में दिखाई देता है। "धर्मा काले रंग का था और उसके सारे शरीर पर चेचक के गहरे दाग भी थे। काफी साफ-सुथरा रहता था, इसलिए आकर्षक दिखता था। उन दिनों महार-मातंग शरीर या कपड़ों पर साबुन वगैरह नहीं लगाते थे। लेकिन धर्मा साबुन लगाता था शायद, इसी कारण उसके शरीर से सुगंध फूटती थी। सफेद धोती और सफेद शर्ट पहनता था। कभी-कभी नेहरू-शर्ट भी। इसलिए दलित लड़कों में अत्यधिक आकर्षक और विशिष्ट दिखता। बावजूद इतनी साफ-सफाई और स्वच्छता के, सवर्ण उसे दलित ही कहते। वैसे वह ऐसी बातों पर कभी ध्यान ना देता था। साफ-सुथरा रहना, साफ़ कपड़ा पहनना और अच्छा खाना- इसी में वह मगन रहता।"[52]

दलित समाज में पढ़-लिख लेने के बाद भी लोग अपनी जातियाँ छुपाते थे, क्योंकि कहीं न कहीं उनके व्यवसाय एवं उनके रहन-सहन में यह आड़े आती थी। इस कारण इनको अपनी जाति के कारण इन्हें समाज में सम्मान एवं अधिकार नहीं प्राप्त हो पाते थे। ऐसी एक घटना का जिक्र उर्मिला

पवार अपनी आत्मकथा 'आयदान' में करती हैं। "मेरे जीजाजी की वकालत में कहीं ज्यादा लेना आ जाये, इस हेतु से दीदी ने उनका कांबले उपनाम (जातिवाचक उपनाम) बदलकर दाभोलकर रख दिया था। उनकी देखादेखी मैंने भी भिरवंडेकर उपनाम रखने का विचार किया परंतु पवार नाम मराठों में भी चल जाता है इसी विचार से नहीं बदला।"[53]

भारतीय सामाजिक संरचना में ऐसा नहीं है कि दलित जातियों के साथ ही केवल सवर्ण जातियाँ अछूतों जैसा व्यवहार करती थी, बल्कि जो अनुसूचित जातियाँ या दलित जातियाँ हैं उन्हें भी एक तरीके का ब्राह्मणवाद इन सामंतवादी व्यवस्था दिखाई देती है। जिन पर दलित समाज को अपने अन्दर की कमियों को सुधारनें का कदम उठाना होगा। अपने आंतरिक असमानता को भी दूर करना होगा। दलित समाज भी शोषण एवं अस्पृश्यता के लिए अपने से निम्न जाति खोज लेती है, और उनके साथ वैसा ही व्यवहार करती है जैसा सवर्ण दलितों के साथ करते हैं। इसका उदाहरण दलित समाज में देखने को मिलता है। "दलितों के भीतर ही जाति और उपजातियों की अनगिनत सुरंगें थीं, जो कभी-कभी दलित अस्मिता और पहचान को बाँटती तथा तोड़ती थीं। हालाँकि एक सुरंग से दूसरी सुरंग में जाने के सभी रास्ते बंद थे। जातियों की रचना की प्रक्रिया उलझाव ही अधिक थे। उन्हें सुलझाने वाले कम थे और गाँठें डालने वाले अधिक। हर जाति के अपने-अपने अंतर्द्वंद थे। वैसे अंतर्द्वंद समय-समय पर भरते थे। अलग-अलग जातियों की अलग-अलग पंचायतें थीं पंचों की उठ बैठ अपने ही लोगों तक सीमित थी, पर कभी-कभी किसी विशेष समस्या खड़ी होने पर एक जाति के पंचों/ प्रधानों/ चौधरियों/ प्रमुखों की दूसरी जाति के लोगों से बातचीत हुआ करती थी।"[54] नैमिशराय अपनी आत्मकथा में यह बताते हैं कि दलित समाज में भी अपनी-अपनी जातियाँ और उपजातियाँ हैं। जातियों में भी एक-दूसरे से वैसे ही मतभेद हैं जैसे सवर्ण दलितों के साथ करते हैं। इनकी भी अलग-अलग पंचे, पंचायतें, चौधरी. प्रमुख हैं। जो अन्य जातियों से कोई संपर्क नहीं रखती हैं वे अपने जाति का निर्णय स्वयं करते है। किसी विशेष अवसर पर ही सभी पंचायतों के लोग एक साथ मिलते है। "हमें ब्राह्मणों ने जातियों में बाँटा और समाज के सबसे निचले स्तर पर लाकर अपना उल्लू सीधा किया था।

अभी भी हम एक-दूसरे को अपने से ऊपर-नीचे की जातियों में बाँट कर स्वयं उल्लू बने हुए हैं। जातियों की उन लकीरों को किसने छक्का खींचा, कब खिंचा,क्यों खीचा, इस पर शोध करने और बहस करने में अपना अधिक समय लगाने के आदी हो गए, पर स्वयं के बीच में जो जातिभेद बरकरार थे। इस पर हमसे दो शब्द भी कोई नहीं कहेंगे और न लिखेंगें। इससे अधिक कूपमंडूकता और क्या हो सकती है। मेरे भीतर इस तरह के सवाल उठते थे।"[55] ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी आत्मकथा में यह साफ-साफ कहते हैं कि दलित समाज के आतंरिक जातिवाद को सर्वप्रथम ख़त्म करना होगा। जातिवाद तोड़ने के लिए सर्वप्रथम उस पर बात करनी होगी है। दलित समाज अपने बाहरी जातिवाद की तो बात करता है, लेकिन अपने आंतरिक जातिवाद को बनाए रखा है। उसे सर्वप्रथम अपने आंतरिक जातिवाद को तोड़ना होगा। श्यौराज सिंह बेचैन अपनी आत्मकथा में चमार और जाटव के बीच के अंतर को बताते हैं कि जो चमड़े का काम नहीं करते थे वह जाटव हो गया है। और जो अभी भी चमड़े का कार्य करता है वह चमार है। इनमें भी मतभेद दिखाई देता है। "खाल उतारने के बाद पशु का मांस भी निकाला जाता था। हमारे अलावा डोरी ताऊ का लंबा परिवार मुर्दा मवेशियों को खा-खा कर ही पता था। अपनी पसंद का मांस चुन लेने के बाद ही हमें सेर दो सेर मांस देते थे। कई बार घर पर पकने पर डोरी की पत्नी सेमनिया (भूरी) जिसे हम मौसी कहते थे, बेला भर कर रँधा हुआ कलिया दे देती थी। तीसरे, हम दो घरों के अलावा बाकी चमार मुर्दा मवेशी उठाने का काम छोड़ चुके थे। उन्होंने चमार के बजाय अपने आप को जाटव घोषित कर दिया था और हमारा घर छेक दिया गया था। हमारे शादी-विवाह और तीज-त्यौहार के भोज में उनमें से कोई शामिल नहीं होता था। हालाँकि गैर-चमारों के लिए चमार- जाटव दोनों का मतलब एक ही था। गैर-कौम सबको चमार ही कहती थी। मुझे ऐसा नहीं लगता कि मात्र चमड़े का काम करने के कारण चमार नाम रखा गया होगा। चमार कहलाने वाली अनुसूचित जाति इतनी बड़ी संख्या में शायद दस फ़ीसदी लोग भी चमड़े का काम नहीं करते होंगे।"[56] बेचैन के आस-पास आर्य समाज होने के कारण भी यह छुआछूत कम है लेकिन खत्म नहीं हुए थे। दलित समाज अपनी ही जाति में उपजातियाँ बाँट लेता है, और कुछ को निम्न घोषित करके अपने

सारे तीज-त्यौहार और कार्यों में नहीं बुलाता है। दलित अपने जाति के आधार पर बस्ती में रहते और दलित समाज के अन्य जातियाँ अलग बस्ती में रहती है यह समस्या आज भी गाँव में मिल जायेगी।

यह समस्या हिंदी आत्मकथा में ही नहीं देखने को मिलता है। मराठी दलित आत्मकथा में भी दलित समाज के आंतरिक जातिवाद देखने को मिलते हैं और इनका उल्लेख रचनाकारों ने किया है। "गरमी के दिन थे। मैं तथा मातंग समाज का भीमू- हम दोनों इन दिनों रोज खेलते। उसकी माँ हम दोनों पर स्नेह जतलाती। खेलते हुए एक बार प्यास लगी। इस कारण हम दोनों घर आये। मैं पहले पानी पी गया। भीमू को पानी दे रहा था कि संतामाय चिल्ला उठीं, "अरे, मातंग को साथ लिये क्यों घूम रहा है? उसके साथ क्यों खेल रहा है? गाँव जल गया क्या कि इसके साथ खेलने लगा? उसे लोटा मत दे। अपवित्र हो जाएगा।" और वह भीमू को डाँटते हुए कहने लगीं, "चल, यहाँ से निकल।" भीमू को पानी पीने से मना करने के कारण मुझे काफी बुरा लगा। बिरादरी दोस्ती से भी बड़ी होती है क्या? प्याज से भी बिरादरी बड़ी होती है क्या? भीमू आदमी नहीं है क्या? फिर उसके स्पर्श से पानी अपवित्र कैसे हो जायेगा।"[57] दलित समाज में भी जातिवाद दिखाई देता है। जैसे सवर्ण जातियाँ निम्न जातियों के साथ करते है वैसा ही व्यवहार दलित समाज में अंतरिक जातिवाद के रूप में देखने को मिलता है। सर्वप्रथम दलित समाज को आतंरिक जातिवादी स्वरूप को खत्म करना होगा। इसके बाद समाज से ही जातिवाद को खत्म करने की मुहिम चलानी होगी।

मराठी दलित आत्मकथा अक्करमाशी में दलित समाज का मुसलमानों के साथ संबंध देखने को मिलता है शरणकुमार लिंबाले की दादी संतामाय एक मुसलमान के साथ रहने लगती हैं। दलित समाज का सम्बन्ध मुस्लिम समाज के साथ भी देखने को मिलता है। "मुसलमानों में एक से अधिक विवाहों की अनुमति है। दस्तगीर जमादार की पत्नी का लड़का है दादा। बुहरानपुर की किसी स्त्री से उसका विवाह हुआ था पर संतति नहीं हुई। वह भाग गई। परिणामत: दादा ने पूरी जिंदगी संतामाय के साथ गुजार दी। जाति- बिरादरी के परे जाकर उन्होंने मुझे प्यार दिया। अपने बच्चे की तरह उन्होंने देखभाल की। न धर्म देखा, न जाति-बिरादरी। मनुष्य धर्म को रोकता है अथवा धर्म मनुष्य को? धर्म का

दायरा बड़ा है कि इंसानियत का? मनुष्य के लिए धर्म है कि धर्म के लिए मनुष्य? मनुष्य धर्म को विकृत करता है अथवा धर्म मनुष्य को? धर्म, जाति और बिरादरी को त्यागकर क्या मनुष्य जी नहीं सकता?"[58] शरणकुमार लिंबाले कहते हैं कि कोई भी धर्म, जाति मनुष्य से बड़ा नहीं होता है। उसके केंद्र में मनुष्य ही होता है। मनुष्य की भलाई के लिए ही यह व्यवस्थाएँ बनाई जाती है। फिर इन व्यवस्थाओं को ऐसा क्यों बनाया जाता है कि कुछ जाति-बिरादरी या धर्म के लोग एक दूसरे को मारने-काटने और शोषण करने पर भी उतारू हो जाते हैं। धर्म और जाति व्यक्ति के बेहतर जीवन के लिए है न कि उनके हिंसा, शोषण और अत्याचार करने के लिए। कौसल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा में दलित जातियों के भीतर उपजातियों को बताती हैं। "साखरा बाई के पति कोतवाल थे। पारडी गाँव में उनके पास दस एकड़ जमीन थी और उन्हें ऊपर से भी कुछ आमदनी होती थी। सरकारी तनखा भी मिलती थी इसलिए उन्होंने कुछ रुपए जमा किया था। उनकी बाद में मृत्यु हो गई और साखरा बाई अकेली हो गई थीं साखरा बाई हमारी ही जाति (महार) की थीं परंतु उनकी उपजाति अलग थी। हमारी महार जाति में साड़ेबारा उपजातियाँ थीं। कोसरे, बावने, लाडवन, आधवन, सोमवंशी, बारके, झाड़े बावने वगैरह। सबमें खान-पान हो जाता था परंतु विवाह मात्र अपनी ही उपजाति में होती था उपजातियों में शादी की रस्में भी एक जैसी नहीं थी।"[59] दलित समाज में भी जातियों और उपजातियाँ हैं जिनका सभी लोग पालन करती हैं। शादी-विवाह अन्य मौकों पर जाति एवं उपजातियाँ में रस्में एवं परम्पराओं देखने को मिलाती हैं, जिसका सभी पालन करते है। डॉ. अंबेडकर का पहला मूलमंत्र जाति तोड़ने के लिए था- रोटी और बेटी का संबंध स्थापित करना होगा अगर यह स्थापित नहीं हो पाएगा तो जाति नहीं टूटेगी। जबकि यह मंत्र आज भी दलित समाज ने स्वीकार नहीं किया है। जातियों और उपजातियों में बँटा हुआ है। न भोजन और न विवाह संबंधित एक दूसरे से किये जा रहे हैं। वह अपनी ही जाति या उपजातियों में शादी विवाह एवं भोजन करते हैं। दलित समाज अपने आप में भी अस्पृश्य है। दलितों के अलावा भी कुछ ऐसी जातियां हैं जो दलितों के लिए अस्पृश्य हैं। दलित उनको अपने यहाँ भोजन और अपने छुआछूत का पालन करते हैं उसका वर्णन 'दोहरा अभिशाप' आत्मकथा में

देखने को मिलता है। "माँग जाति के लोगों से महान लोग छुआछूत बरतते थे। उनके हाथ का छुआ पानी और खाना फेंक देते थे। उनकी औरतें दाई का काम करती थीं। जच्चा-बच्चा को तेल मालिश और उनके गंदे कपड़े साफ करती थीं। माँग जाति के आदमी शादी-विवाह और मृत व्यक्ति को श्मशान ले जाते वक्त बाजा बजाने का काम करते थे। पहला बच्चा किसी के घर होने पर भी वे उनके आँगन में जाकर बाजा बजाते थे। वे अस्पृश्यों के घर में भी बाजा बजाते थे। स्पृश्य लोगों के घरों में त्यौहार वगैरह पर आँगन के दूर कोने में बैठकर बाजा बजाते थे। उनकी औरतें फुरसत के समय बाँस की टोकरियाँ, सूप वगैरह बनाकर बेचती थीं।"[60] दलित समाज के साथ आदिवासी समाज भी अस्पृश्यता का शिकार दिखाई देते हैं और उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार किया जाता है जैसा सवर्ण दलित समाज के साथ करते हैं। "कुछ आदिवासी औरतें (गोंड) साथ की सड़क के पार बने बँगलों में स्पृश्य लोगों के घर बर्तन माँजना, झाड़ू-पोछा, कपड़े धोने का काम करती थीं। वहाँ के लोग अछूतों से यह काम नहीं करवाते थे। वैसे देखा जाए तो गोंड (आदिवासी) जाति का रहन-सहन महार-माँगों जैसा ही था। न वे पढ़े-लिखे थे न अमीर, परंतु वे अछूत नहीं थे। किंतु ब्राम्हण या उच्च समझे जाने वाले लोग इन्हें घर की चीजों को छूने नहीं देते। बाहर नल होते थे वहाँ वे बर्तन-कपड़े धोकर वहीं रखते। बाद में घर के लोग एक बार फिर इन्हें पानी से निकालकर अंदर लाते। झाड़ू सिर्फ आँगन में ही लगाते थे और उस पर गोबर का पानी छिड़कने का काम इन से करवाते थे। ये लोग भी महार-माँगो के घर नहीं आते-बैठते। वे इनसे छुआछूत बरतते थे। वे भी एक ओर रहते थे। सब जातियों के घर अलग-अलग थे।"[61] आत्मकथा में सवर्ण समाज के छुआछूत और अस्पृश्यता दिखाई देती है तो दलित समाज भी जातियों में उपजातियों में बँटा है। उन्हीं आधारों पर दलित समाज के अन्दर भी शोषण और अस्पृश्यता दिखाई देता है। इसलिए सर्वप्रथम दलित समाज को आंतरिक जातिवाद को खत्म करना होगा और एक समाजवाद व्यवस्था स्थापित करना होगा। जिससे समाज में रोटी और बेटी का संबंध स्थापित हो सके। इसके बाद एकजुट होकर इस जातिवाद को पूरे समाज से खत्म करना होगा। दलित रचनाकार सवर्णों के जातिवाद की तो बात करते हैं लेकिन अपने आंतरिक जातिवाद पर चुप्पी साध लेते हैं। उन

पर कुछ नहीं बोलते हैं, अपने आंतरिक जातिवाद के ऊपर बोलना होगा और उन्हें खत्म करना होगा, तभी दलित समाज के लिए बेहतर होगा।

## 5.2 रीति-रिवाज एवं मान्यताएँ:

भारत देश बहुधार्मिक देश है। कई धर्म के लोग एक साथ निवास करते हैं। किसी की भी उपासना एवं कोई भी धर्म मानने की इजाजत भारत का संविधान देता है इसलिए सबकी मान्यताएँ अलग-अलग हैं। कुछ मूर्ति-पूजा में विश्वास करते हैं तो, कुछ मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं करते हैं। कुछ प्रकृति को ही अपना आराध्य मानते हैं और कुछ निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं, इसीलिए भक्ति काल में सगुण और निर्गुण परंपरा को देखते हैं। भारतीय समाज कई धार्मिक मान्यताओं को मानने वाला है उसका प्रभाव दलित समाज पर भी देखने को मिलता है। ज्यादातर दलित जातियाँ हिंदू धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करती हैं, लेकिन दलित आत्मकथाओं को विस्तार से देखे तो वह अलग ही दिखाई देते हैं और उनके देवी-देवता हिंदू धर्म से ही अलग हैं। मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा 'अपने अपने पिंजरे' में बताते हैं कि "पिता पूजा भी करते थे। मंशादेवी और न जाने किन-किन देवियों की तस्वीरें हवेली में हुआ करती थीं। शाम को वे इन तस्वीरों के आगे धूपबत्ती भी जलाते थे। पर बा किसी देवी-देवता की पूजा न करता था। हमारे कच्चे घर में भी किसी देवी-देवता की तस्वीर ना थी।"[62] हिंदू धर्म में मूर्ति पूजा को स्वीकार किया गया है जिसका प्रभाव दलित समाज पर भी दिखाई देता है जो दलित आर्थिक रूप से मजबूत हो गए हैं, उन पर हिंदू धर्म का प्रभाव साफ साफ दिखाई देता है। वह धार्मिक कर्मकांड एवं मूर्ति-पूजा हिंदुओं की मान्यताएँ के अनुसार करते हैं। लेकिन जो आर्थिक रूप से कमजोर है, उनपर बौद्ध धर्म का प्रभाव दिखाई देता हैं। दलित समाज पर डॉ.. भीमराव अंबेडकर के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के पश्चात उसका प्रभाव दिखाई देता है इसलिए दलित बौद्ध धर्म स्वीकार करते हैं। दलित समाज के कुछ लोग ऐसे भी है जो कोई भी धर्म स्वीकार नहीं है। दलित समाज को हिंदू उनको अपना स्वीकार नहीं करते हैं और मुस्लिम उन्हें हिन्दू नहीं मानते। जब भी दंगे होते थे तो इसका खामियाजा दलितों को भोगना पड़ता था दलित समाज के रीति-रिवाज

किसी धर्म बंधन में बंधे नहीं थे उन्होंने अपनी परंपराएं खुद बनाइ थी। "हम पूजा भी करते थे और पीर पर चादर भी चढ़ाते थे। हमारे घर मीर पूजता था और सूअर से हम परहेज भी करते थे। स्वयं माँ ने एक दिन बकरा काटा था। बकरे को काटकर उसका गर्म और गाढ़ा खून नीम के पेड़ के पास कच्चे आँगन में दबा दिया था। फिर बकरे का गोश्त पकाया गया था। स्वयं खाया था और वह प्रसाद के रूप में अड़ोसी-पड़ोसियों को बाँटा था। दूसरी तरफ काली देवी का बकरा, परमेश्वरी देवी का बकरा भी हमारी जात में चढ़ाया जाता था।"[63] मोहनदास नैमिशराय जहाँ रहते थे वहाँ मुस्लिमों की आबादी भी थी इसलिए हिंदू और मुस्लिम धर्म के प्रभाव दलित समाज पर देखने को मिलते हैं। मुस्लिमों की परंपराओं और रीति-रिवाजों का प्रभाव दलित समाज पर भी दिखाई देता है। हिंदुओं की परंपराओं को भी मानते थे। लेखक बताते हैं कि "मेरठ में यूँ पीरों की भरमार थी। जिधर भी नजर जाती मजार ही मजाक नजर आतीं। जिसके पास लंबी-लंबी छड़ी रखे हाजी तथा मौलवी पंखा झल रहे होते। कुछ बड़े पीर थे, उनका नाम दलित जातियों के भीतर सम्मान के साथ लिया जाता था। उनमें विशेष थे बुरहा पीर, नट बाबा, जहार पीर, गूँगा पीर। गूँगा पीर की याद में तो छड़ियों का मेला भी लगता था। जिसे दलित-पिछड़ों का ही मेला मान लिया गया था। हमारी जात के मेले में भी अलग बना दिए गए थे। हमारे पेड़ भी अलग थे। नीम के बारे में अकसर कहा जाता था कि यह चमारों के घरों में ही होता है, हमारे बीच देवी-देवताओं का भी उद्भव हो गया था। माता माई, भूमिया माई, शीतला माता जैसे अनगिनत देवियाँ हो गई थी।"[64] मोहनदास नैमिशराय बताते हैं कि दलित समाज की इतनी परंपराएँ रही होंगी लेकिन इन परंपराओं को दबा दिया गया या खत्म कर दिया गया, जिससे यह अन्य धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करने लगे। हिंदू और मुस्लिम धर्म से अलग मान्यताएँ जूठन आत्मकथा में मिलती है। दलित समाज के अपने अलग मान्यताएँ एवं देवी-देवता है। "प्रत्येक घर में उन देवताओं की पूजा होती थी। ये देवता हिंदू देवी-देवताओं से अलग होते हैं, जिनके नाम किसी पोथी-पुराण में ढूँढने से भी नहीं मिलेंगे। लेकिन किसी भी ऐसे परिवार में चले जाइए जिनका संबंध इस बिरादरी से है, वहाँ इन देवी-देवताओं की पूजा देखने को मिलेगी। जन्म हो या कोई शुभ कार्य, शादी- विवाह या

मृत्यु-भोज!-इन देवी-देवताओं की पूजा बिना अधूरा है।"[65] ओमप्रकाश वाल्मीकि अपनी आत्मकथा में बताते हैं कि वाल्मीकि समाज के लोग हिंदू धर्म की मान्यताओं को नहीं मानते थे और इनके धार्मिक मान्यताएँ अलग थी। "कहने को तो बस्ती के सभी लोग हिंदू थे, लेकिन किसी हिंदू देवी-देवता की पूजा नहीं करते थे। जन्माष्टमी पर कृष्ण की नहीं, जहारपीर की पूजा होती थी या फिर 'पौने' पूजे जाते थे। वे भी अष्टमी को नहीं, 'नवमी' के ब्रह्ममुहूर्त में।

इसी प्रकार दीपावली पर लक्ष्मी का पूजन नहीं, माई मदारन धारण के नाम पर सूअर का बच्चा चढ़ाया जाता है या फिर कड़ाही की जाती है। कड़ाही यानी हलवा-पूरी का भोग लगाया जाता है।"[66] ओमप्रकाश वाल्मीकि बताते हैं कि जैसा हिंदू धर्म में दीपावली के दिन लक्ष्मी की पूजा होती है और जन्माष्टमी के दिन कृष्ण की पूजा होती है। वैसे ही वाल्मीकि समाज में कृष्ण और लक्ष्मी की पूजा नहीं होती है। इनके देवी- देवता अलग हैं यह उन्हीं की पूजा अर्चना करते हैं। आगे वो कहते हैं कि "वैसे भी बस्ती में ही नहीं, पूरे वाल्मीकि समाज में हिंदू देवी-देवताओं की पूजा नहीं होती है। पढ़े-लिखे लोगों में देखा-देखी कर लेने की बात और है। ये पूजा करते हैं, अपने देवी-देवताओं की जिनके नाम न तो वैदिक ग्रंथों में मिलेंगे, न पुराणों में। पूजा की विधियाँ भी अलग हैं।"[67] ओमप्रकाश वाल्मीकि बताते हैं कि धार्मिक संस्कार वाल्मीकि समाज के वह हिंदू धर्म से अलग हैं। यह धार्मिक मान्यताएँ उन्हें किसी पुराण या किसी ग्रंथ में देखने को नहीं मिलेगी। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी समाज में चली आ रहे हैं। यह हिंदू धर्म से अलग है, देवी-देवता अलग होने के साथ-साथ इनकी पूजा की विधियाँ भी हिंदू धर्म से अलग है। हिंदू धर्म का प्रभाव केवल उन्हीं पर देखने को मिलता है जो पढ़-लिख गए हैं। बाकी ग्रामीण समाज आज भी उन्हीं देवी-देवताओं की पूजा किया करता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ऑर्डिनेंस फैक्ट्री में काम करने के दौरान जब उत्तराखंड (देहरादून) में रहते हैं, तो वहाँ पर हिंदूधर्म को मानने वाले भी पशुबलि करते हैं। "देहरादून और उसके आसपास पशु-बली आम बात थी। देहरादून ही नहीं, गढ़वाल में भी एक देवी खेरावदनी के मंदिर में प्रतिवर्ष भैंसों की बलि देने की प्रथा थी। यह मंदिर पौड़ी जनपद के काड़ा नामक स्थान पर है। दीपावली के दूसरे दिन भैंसों की बलि दी जाती थी।

गढ़वाल-कुमाऊँ सीमा के निकट बोरोंखाल (गढ़वाल) व माल्दे (अल्मोड़ा-कुमायूँ) विकासखंडों के अंतर्गत आयोजित किए जाने वाले कालिंगा मेले में ढाई- तीन हजार पशुओं की बलि दी जाती है।"[68] ओमप्रकाश वाल्मीकि बताते हैं कि वर्तमान परिपेक्ष में यह धर्म इतना सात्विक भाव कैसे पैदा कर सकता है जहाँ पर पशु बलि आम बात है। उत्तराखंड को देवभूमि कहा गया है इसलिए पशुबलि हिंदू धर्म का एक सामान्य घटना मानी जाती है। हिन्दू धर्म में पशु बलि के सन्दर्भ दिखाई देते है। तुलसीराम अपनी आत्मकथा मुर्दहिया में बताते हैं कि दलितों की अपनी अलग देवी-देवता और धार्मिक मान्यताएँ हैं। किसी भी प्रकार के कष्ट या प्रकोप आने पर वह उन्हीं देवी देवताओं की पूजा किया करते हैं। जिसका उल्लेख आगे करते हैं। "जब मैं तीन साल का हुआ, गांव में चेचक की महामारी आई। मेरे ऊपर उसका गहरा प्रभाव पड़ा। चेचक से मैं मरणासन्न हो गया। घर में स्थानीय ग्रामीण देवी-देवताओं की पूजा शुरू हो गई। उस समय गांव में दलितों के अलग देवी-देवता होते थे, जिसकी पूजा सवर्ण नहीं करते थे। हमारे गांव में भी 'चमरिया माई' और 'डीह बाबा' दो ऐसे ही देवी-देवता थे, जिनकी पूजा दलित करते थे। इन दोनों को सूअर तथा बकरे की बलि दी जाती थी। बलि के अलावा इन्हें 'हलवा-सोहारी' (पूडी), 'धार' और 'पुजौरा' भी चढ़ाया जाता था। एक लोटा पानी में कुछ जायफल, छुहारा, लौंग आदि मिला दिया जाता, जिसे 'धार' कहते थे। एक मुट्ठी जौ का आटा पुजौरा कहलाता था।"[69] तुलसीराम अपनी बचपन की एक घटना के माध्यम से बताते हैं कि दलित समाज के जो देवी-देवता है, वह हिंदू समाज से अलग है। इनकी पूजा केवल दलित समाज के लोग ही करते हैं हिंदू धर्म के लोग नहीं करते हैं। इनके देवताओं को पूडी-कचौड़ी और पशुबलि (बकरा, सूअर) देवताओं को भेंट किया। तुलसीराम के चाचा जब कोलकाता का माने जाते हैं तो वहाँ से रामायण खरीद कर लाते हैं। तुलसीराम ही अपने घर में पढ़े-लिखे व्यक्ति या बालक हैं, तो उन्हें पढ़ने के लिए दिया जाता है। इसका आयोजन गाँव के कुएँ के चबूतरे पर किया जाता है। गांव के 25-30 लोग सुनते आ जाते हैं, उनके चाचा सुंदरकांड सुनने का आग्रह करते हैं। इस प्रकार देखते हैं कि दलित समाज में भी सवर्णों के धार्मिक ग्रंथ या महापुरुष की कहानियाँ धीरे-धीरे समझाई जा रही हैं। दलित

समाज अपनी मान्यताओं और रीति-रिवाजों को धीरे-धीरे भूलता जा रहा है, जिसका मुख्य कारणअशिक्षा, अज्ञानता है। जिसकारण उसका कोई लिपि बन्ध रूप नहीं मिलता है। तुलसीराम दलित समाज के शादी-विवाह में होने वाली कार्यक्रमों का भी जिक्र करते हैं।

"सोने की थाली में जेवना परोसो रामा,

जेवना ना जेवै हमार बलमा।

यह एक अत्यंत प्रचलित लोकगीत हुआ करता था, जिसे मटमंगरा से लेकर शादी के दिन तक लगातार गाया जाता था। इस दौरान दलितों की झोपड़ियों की दीवारों पर कोहबर कलाकृतियां विभिन्न रंगों में उभडकर अपना एक अलग ही सौंदर्य बिखेरने लगती थीं। दीवार पर गेरू तथा हल्दी से जो पेंटिंग की जाती थी, उसे कोहबर कहा जाता था। इसी कलाकृतियों में केले का पेड़, हाथी, घोड़े, औरत, धनुष-बाण आदि शामिल होते थे। इन कलाकृतियों को 'कोहबर लिखना' कहा जाता था। चिट्ठी की तरह कोहबर लिखने के लिए भी गांव वाले मेरी ही तलाश में रहते थे। अतः मैं जब तक गांव में रहा, शादी किसी के घर हो, कोहबर मैं ही लिखता रहा। एक विशेष बात यह थी कि इनको कोहबर कलाकृतियों का प्रचलन सवर्ण जातियों में नहीं था। इन परंपराओं से जाहिर होता है कि सदियों से चला आ रहा दलितों का यह बहिष्कृत समुदाय एक अलौकिक कला एवं संगीत का न सिर्फ संरक्षक रहा, बल्कि उसका वाहक भी है। अशिक्षा के कारण लिपि का ज्ञान न होने के कारण दलित लोग संभवत: भारत के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने अभिव्यक्त के लिए कोहबर पेंटिंग का सहारा लिया था।"[70] कोहबर कला का प्रयोग शादी-विवाह में उत्तर भारत की सभी जातियों में किया जाता है। तुलसीराम ने अन्य जातियों में इसकी पड़ताल नहीं की होगी या फिर कोहबर को केवल दलित समाज का बताने की जल्दीबाजी की।

तुलसीराम ने मुर्दहिया के प्रथम खंड के बाद मणिकर्णिका का दूसरा खंड लिखा जिसमें वह बनारस की परिवेश, धार्मिक मान्यताओं की चर्चा करते हैं। बनारस मुक्ति का शहर है जहाँ मृत्यु होने

के बाद लोग आते है, उनका दाह-संस्कार करते हैं। मणिकर्णिका हिंदू समाज के लिए एक प्रसिद्ध घाट है जहाँ दाह-संस्कार करने से यह मान्यता है कि वह सीधे स्वर्ग में जाता है। दलित समाज को जमीन पर तो कुछ मिला ही नहीं तो स्वर्ग की क्या चिंता? वह इन मान्यताओं पर विश्वास नहीं करता था। सुशीला की नानी भगवान को भी कोसती हुई कहती हैं। "जिनके लिए भगवान के नाम से सब अच्छा है, वह भगवान की स्तुति ही करेंगे, लेकिन जिनके लिए कुछ अच्छा नहीं, जिन्हें सुख-सुविधा, अवसर-अधिकार जैसी कोई चीज नहीं, वे भला भगवान को क्यों न कोंसें? सोचने की बात है। ऐसे समय नानी कहती थी-"किसका भगवान? कौनसा भगवान? कैसा भगवान?"[71] दलित समाज की अगर एक-दो पीढ़ी भी पीछे जाते हैं तो किसी भी प्रकार के धार्मिक कर्मकांड एवं भगवान की उपासना के साक्ष्य नहीं मिलते हैं। उनके विषय में दलितों के द्वारा कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। दलित समाज की अपनी धार्मिक मान्यताएँ, परंपराएं, रीति-रिवाज है। लेकिन उनको संरक्षित करने दलित समाज का अशिक्षित एवं अज्ञानी हैं। अशिक्षित होने का दलितों को बहुत नुकसान हुआ। वह अपनी जड़ों से दूर हो गए और अपनी सांस्कृतिक मान्यताओं को सुरक्षित नहीं रख सके। सुशीला 'शिकंजे का दर्द' में बताती हैं। "राखी के दूसरे दिन भुजलियों का त्यौहार रहता। बानापुर में हमारी जाति के सिर्फ दो घर थे माँ और नानी का। सिवनी में पूरा मोहल्ला था दस-बारह घर का। सभी लोग एक दूसरे के घर जाते, भुजलिएँ देकर गले मिलते। हमारे घर कभी भुजलिएँ उगाकर पूजा नहीं की गई। जाती ये हिंदू त्यौहार हैं, हम हिंदू नहीं थे मगर उनके त्यौहारों और रीति-रिवाजों का अनुकरण करते थे। सिवनी ही कुछ बहू बेटियाँ हिंदू महाजन की बहू बेटियों को देखकर भुजलिएँ उगाकर पूजा करती थीं। हमारे समाज के अधिकतर लोग माँगकर लाई भुजलिएँ एक दूसरे को देकर खुश होते थे।"[72] दलित समाज में धार्मिक मान्यताएँ अलग है, वह हिंदू धर्म की मान्यताओं को नहीं मानता है लेकिन नई पीढ़ी हिंदू धर्म की मान्यताओं को स्वीकार कर रही है। इसका मूल कारण शिक्षा एवं दलितों की मान्यताओं को नीचा दिखाना है, इसीलिए वह अपनी मान्यताओं और रीति-रिवाजों को स्वीकार नहीं करते है। शादी-विवाह में दलित समाज के अलग रीति-रिवाज होते है। जिसका उल्लेख सुशीला टाकभौरे करती हैं।

"हमारे लोग पूजा में बहुत विश्वास करते थे। विवाह या किसी शुभ कार्य के पहले देवी-देवता की पूजा करना जरूरी मानते। निश्चित दिनों में पूजा ना करने पर उन्हें देवी-देवता के कोप का भय रहता। हमारे घर पीर बाबा की पूजा होती थी। घर के आँगन के सामने पीर बाबा का थान था। मिट्टी के चौकोर चबूतरे पर बीच में एक फुट के वर्ग में चार कोन पर चार पिंड और उनके बीच एक पिंड, यही था पीर बाबा का थान। इस थान को हमेशा सफेद चाक मिट्टी से लीप पोतकर रखा जाता था।"[73] सुशीला टैगोर आगे बताती हैं कि पीर बाबा की एक साल में एक बार पूजा होती और चढ़ावे के रूप में इनको मुर्गा और मलीदा चढ़ाया जाता। मलीदा आटे के द्वारा बनाया जाता था, जिसमें गुड़, घी, शक्कर मिलाकर बनाते थे। दलितों के धार्मिक मान्यताएँ एवं रीति-रिवाज या परंपरा हिंदू धर्म से अलग हैं। इनकी अपनी मान्यताएँ है। श्यौराज सिंह बेचैन अपनी आत्मकथा में बताते हैं कि उनके यहाँ भी धार्मिक मान्यताएँ हिंदू धर्म से अलग हैं। जिसका उल्लेख हो करते हैं। "जहाँ तक मेरी याददाश्त है, मेरे घर-परिवार के जो संस्कार रहे उनमें शराब, जुआ या अन्य व्यसनों के लिए कोई जगह नहीं थी। व्रत, पूजा, गंगा-स्नान आदि सब वंश रीति के अनुसार चलते थे। लेकिन हमारे देवताओं में नौंना चमारी, भौपुर की चामुंडा, बंगाले के बंगाली बाबा, सैयद बाबा प्रमुख थे। मेरे घर सहित पूरे चमरियाने में दारूबाजी का चलन तो दूर नशीले पदार्थों का नामोनिशान तक नहीं था।"[74] श्यौराज सिंह बेचैन को दलित समाज में नशीले पदार्थों का सेवन नहीं देखने को मिलता है यह अतिशयोक्तिपूर्ण जान पड़ता है क्योंकि दलित समाज में नशीले पदार्थों का सेवन होता रहा है। यह हो सकता है कि इनके परिवेश में नशीले पदार्थों का सेवन ना रहा हो। दलित समाज के शादी-विवाह के रीति- रिवाज भी अलग दिखाई देते हैं क्योंकि दलितों में पुनर्विवाह होता है। दलित समाज में पुनर्विवाह करने की कोई रोक-टोक भी नहीं है। लेकिन इनकी कुछ विधियाँ की चर्चा दोहरा अभिशाप में कौशल्या बसंती करती हैं। "अस्पृश्य समाज में अगर कोई विधवा दोबारा शादी करना चाहे तो उसके लिए कोई रोक-टोक तो थी ही नहीं। तलाकशुदा औरतों को भी दूसरा घर करने में समाज को कोई आपत्ति नहीं थी परंतु इस दूसरी शादी की विधि अलग थी और इसे विवाह न कहकर 'पाट' कहते थे। इस विधि में विधवा को सारे

सौभाग्यवती के चिह्न मंगलसूत्र, बिछुए, बिंदी वगैरह लगाकर सिंदूरी रंग की साड़ी पहनाकर रात के अंधेरे में उसका पति अपने घर लाता था। इस कार्यक्रम में बाजा-गाजा या मंडप बगैरा नहीं रहता था। हाँ दोनों ओर के रिश्तेदार, मित्र मंडली का खाना-पीना होता था। तलाकशुदा का भी 'पाट' होता था जैसे कि विधवा का, परंतु तलाकशुदा को रात में नहीं लाते थे।"[75] कौशल्या बसंती अपने समाज के मान्यताओं या रीति-रिवाजों को बताती हैं कि विधवा या तलाकशुदा दोनों ही स्थितियों में स्त्री की शादी हो सकती है। लेकिन उनके मान्यताएँ अलग हैं जिसमें बाजा-गाजा नहीं बजता है। रात के समय विदाई हो जाती है। रात के समय केवल विधवा महिला को ही लाया जाता था जबकि तलाकशुदा के लिए कोई नियम नहीं था। कौशल्या बसंती अपनी जाति की एक त्यौहार के विषय में बताती हैं कि "जनवरी महीने में एक त्यौहार आता जिसे सिर्फ कोसरे उपजाति ही मनाती थी, उसे 'सूर्या' कहते। सूर्य की पूजा करते। वह भी आँगन में सूर्य निकलने पर सवेरे मुर्गे की बलि देते थे। मुर्गे का सिर काटकर उसे दिन भर आँगन में ही पूजा के स्थान पर टोकरी ढाककर रखते थे। मुर्गा पकाकर खाते थे। शाम को मुर्गे के सिर को पकाकर प्रसाद के रूप में खाते थे परंतु अब यह सब रस्म-रिवाज बंद हो गए।"[76] लेखिका बताती हैं कि यह केवल कोसरे उपजातियों में की जाती थी। अन्य उपजातियों में यह रस्म नहीं थी। कौसल्या बताती हैं कि उनकी जातियों के बीच एक देवी थी, जिनकी पूजा आषाढ़ के दिन में की जाती है जिसका वर्णन उन्होंने किया है "आषाढ़-पूर्णिमा के दिन मंदिर में बहुत बड़ी पूजा होती थी। देवी पर बकरे-मुर्गों की बलि दी जाती थी। नारियल-गुड भी चढ़ाया जाता था। बच्चों के झुंड प्रसाद के लिए वहाँ जम जाते थे। बलि के प्राणी का मांस घर में लाकर और पकाकर खाते थे। अब अधिकांश महार बौद्ध हो गए हैं और उन्होंने इस अंधविश्वास और काल्पनिक देवी-देवताओं को पूजना छोड़ दिया है। माता के मंदिर की जगह अब यहाँ बौद्ध मंदिर बन गया है।"[77] दलित समाज के बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने के बाद उसमें परिवर्तन साफ दिखाई देता है। वह बौद्ध धर्म को पूजने के अलावा अन्य किसी को भी नहीं पूछता है इसका प्रभाव ऊपर के सन्दर्भ में देखने को मिलता है। महाराष्ट्र के इलाके में गणेश चतुर्थी या गणेश पूजन का बहुत महत्त्वपूर्ण है। पूरे मराठा समाज में इस पूजा का बहुत

महत्त्व है। यह बहुत प्रचलित भी है लेकिन दलितों के यहाँ इसकी मान्यताएँ अलग-अलग हैं जिसका उल्लेख कौशल्या बसंती करती हैं। "अस्पृश्य समाज के लोग गणपति पूजा को इतना महत्त्व नहीं देते थे। वे तो शिवजी और कृष्ण के भक्त थे। उनके अपने भी कुछ देवी -देवता थे। मरीमाई, खंडोबा, देवदुल्ला, वाघोबा वगैरह, उनकी वे पूजा करते थे।"[78] दलित समाज के भी देवी-देवता जिनकी पूजा करते है, वह हिंदू धर्म के देवी-देवता से अलग है। कुछ ऐसे भी दलित हैं जो हिंदू धर्म की देवी-देवताओं की भी पूजा करते हैं। जिसका उल्लेख आधुनिक युग में ज्यादा देखने को मिलता है अगर एक-दो पीढ़ी पीछे जाते हैं तो उनकी मान्यताएँ अलग हैं, उनके देवी-देवता अलगहै। हिंदू धर्म की मान्यता के आधार पर दलित अपने शव को जलाते है। तुलसीराम ने मणिकर्णिका व मुर्दहिया आत्मकथा में बताया है। दलित अपने शव को मुस्लिम या ईसाई की तरह दफ़नाते के भी उल्लेख मिलते है। लेकिन कौसल्या बैसंत्री 'दोहरा अभिशाप' में बताती हैं कि उनके शवों को जलाया नहीं दफनाया जाता है। "बुजुर्ग कहते थे कि मरने के बाद गुदना ही हिसाब से जाता है और कोई चीज साथ नहीं जाती। उस वक्त हमारे लोग शव को दफनाते थे, जलाते नहीं थे। आदिवासी औरतें गोदने के बदले पैसे, अनाज, चावल, आटा वगैरह ही लेती थीं वे हमारे हाथ की रोटी-पानी नहीं लेती थीं।"[79]

शरणकुमार लिंबाले ने अपनी आत्मकथा में दलित समाज के सांस्कृतिक चेतना और सांस्कृतिक मान्यताओं के विषय में बताया है कि "ईश्वर को संतति समर्पित करने की परंपरा केवल पिछड़ी जातियों में ही है। अम्बाबाई, यल्लाम्मा, लक्ष्मी, खंडोबा-यह महान-मतंगों के आराध्य दैवत। मसोबा, मरीआई, खोकल्या आई, सटवाई-नामों की सूची बढ़ाई जा सकती है। किसी के संतति नहीं हो रही हो तो ईश्वर से मनौती माँग लेते। अंबाबाई से मनौती माँगी। लड़की हुई तो उसका नाम अंबाबाई रख दिया और लड़का हुआ तो अंबादास और फिर बाद में इन बेटे-बेटियों को 'आराधक' के रूप में अंबाबाई को अर्पित कर देते हैं। लक्ष्मी से मनौती माँगी। बेटी हुई तो नाम लक्ष्मी और बेटा हुआ तो नाम लक्ष्मण। लक्ष्मी को पोतराज के लिए बेटे को छोड़ दिया जाता है। खंडोबा पर भी बेटे-बेटियाँ छोड़ने का इधर रिवाज है। बेटे को 'वाध्य' तथा बेटी को 'मुरली' कहा जाता है। यल्लामा के

'जोगत्या' और 'जोगती' होती हैं। मैंने कभी ब्राह्मण पोतराज या लिंगायत वाध्य को देखा नहीं हैं। दलितों में ही यह रूढ़ियाँ क्यों? भगवान के नाम पर छोड़े गए स्त्री-पुरुषों के विवाह नहीं होते। उनका विवाह तो ईश्वर से हो जाता है ना! देवदासी अपनी मर्जी के पुरुष के साथ जी सकती है। देवदासी की संतान को 'अक्करमाशी' कहते हैं। उन्हें 'बलूतं' का अधिकार नहीं होता। ईश्वर के नाम पर भीख माँगकर उन्हें जीना पड़ता है।"[80] दलित समाज की धार्मिक मान्यताओं के विषय में बताते हैं कि दलित समाज का मनौती का पुत्रया पुत्री उसे भगवान को समर्पित कर दिया जाता है। पुत्र पोतराज के रूप मेंजाना जाता है और पुत्री देवदासी के रूप में।

सवर्णों के सारे धार्मिक क्रियाकलाप, सभी संस्कार ब्राह्मणों के द्वारा किये जाते थे। दलितों में भी कहीं-कहीं यह प्रक्रिया देखने को मिलती है उनके यहाँ भाटो के द्वारा यह कार्य किया जाता है जिसका उल्लेख दया पवार ने अपनी आत्मकथा करते है। "जिस प्रकार सवर्णों की सारी विधि ब्राह्मण पुरोहित करता है, वैसे ही जमाने में महारों की विधि भाट करता था। यह भाट तालुके में रहता। बच्चों का नामकरण, शादी-ब्याह इत्यादि काम भाट करता था। वैसे ये भाट जाति से महार ही थे। परंतु इन्हें महान लोग छोटा समझते। दरवाजे पर आने के बाद 'राव साहब, पुण्य महाराज' इस तरह पुकारते। हमारे घर आनेवाला सीताराम भाट स्वभाव का बहुत ही मीठा था। बातें करने में एक अलग मिठास थी। सभी को प्यारा लगता था उसका व्यक्तित्व।"[81] दलित समाज के रीति-रिवाज, परंपरा एवं संस्कार अलग थे और उनको काम करने के तरीके भी अलग थे आत्मकथा में देखने को मिलते हैं। दया पवार बताते हैं कि किस प्रकार उनके यहाँ खंडोबा की पूजा होती है। "पुरानी परंपरा से हमारे घर में खंडोबा की पूजा होती। माँ ने चांदी के कुछ नए टाँक बनवा लिए थे। पिता की मृत्यु के कारण माँ पर परिस्थितियों के दबाव के कारण डर पैदा हो गया था। वह रविवार को खंडोबा को स्नान करवाने के लिए कहती। घोड़े पर बैठा खंडोबा। हाथ में तलवार। उनके साथ भैरव रहते। स्नान करवाना अर्थात थाली में पानी लेकर धोना। ईंट की बुगदी से उनका जंग साफ किया जाता। तब वह चमकने लगते। धोया गया पानी छप्पर फेंकते। शाम को आरती की थाली थाल भर जाती। बेल-भंडार फेंकते। नारियल

के टुकड़े बाँटते। माथे पर गुलाल लगाते। जिस प्रकार हफ्ते में एक दिन पूजा के लिए होता, ठीक उसी तरह समाधि पर पानी चढ़ाना भी एक दिन का काम होता। गुरुवार का उपवास रखना पड़ता।"[82] मराठी दलित आत्मकथा में करीब-करीब सभी दलित आत्मकथाकारों में खंडोबा के पूजन की बात की जाती है। मराठी दलित में खंडोबा एक देवता है जिनका पूजा-अर्चना करता है। इनकी मनौती से अगर पुत्र होता था तो खंडोबा को दे देते हैं जिसको पोतराज कहा जाता है। लड़कियों को देवदासी कहा जाता है। पोतराज के विषय में कहा जाता है कि "हर घर की शान होता था, घर का बड़ा बेटा। बड़ा बेटा यानी पोतराज या वाघोबा घर के सम्मान चिन्ह थे मानो। अपने बेटे को परंगत करने की जिम्मेदारी पिता की होती थी। पोतराज या बघोबा हो जाने पर परिवार को घर-खर्च की चिंता नहीं रहती थी। पोतराज की पीढ़ियों से चला आ रहा आय का स्थायी स्रोत था। उसी तरह वाघोबा भी। पूर्वजों की यही एक संपत्ति थी।

वाघोबा के मंदिरों में पूर्वजों का कोरमा (चौकोर बर्तन, जिसमें हल्दी-कुमकुम होता है और जिसकी पूजा की जाती है) घोड़ा (बाघ के चमड़े से बना छोटा थैला जिसमें हल्दी का चूरा होता है) चावंडक (इकतारा) आदि वस्तुएँ होतीं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही यह चीजें मंदिरों में हमेशा रहतीं। यही सब पोतराज को चाहिए, इसलिए इस सामान की पोटली मंदिर के पास खूँटी पर हमेशा टँगी रहती।"[83] मराठी समाज में भैंसों की बलि देखने को मिलती है, किसी भी देवता को चढ़ाया जाता है। बलि से पहले जानवर पर हल्दी और कुमकुम का छिड़काव किया जाता है। वह अपने देवता की जयकारा लगाकर उसे बलि चढ़ा दिया जाता। उसके मांस को पकाकर खाते, ऐसे ही बलि का अनुष्ठान किया गया है अर्थात देवी माँ को चढ़ाया जाता है। यह परंपरा सभी मराठी दलित समाज में देखने को मिलती है, लेकिन हिंदी दलित आत्मकथा में सूअर या बकरे की बलि दी जाता है और अपने आराध्य देवता को चढ़ाया जाता है। हिंदी आत्मकथा में सूअर को लेकर के किसी भी प्रकार का परहेज नहीं दिखता है। वह उन्हें अपने देवी-देवता को भी चढ़ाते हैं, और भोजन के रूप में उसे स्वीकार करते हैं। लेकिन मराठी समाज में डोम नामक जाति के यहाँ सूअर अपवित्र माना जाता है। बेबी कांबले एक

ऐसी घटना का जिक्र करती हैं जिसमें नानी मरे जानवर का मांस लेने जाती है उनको मनपसंद हिस्सा नहीं मिलता है, तो गुस्से में कहती हैं कि "आज से जो लोग भी ढोर का मांस खाएगा, उसे सूअर की कसम, वो सूअर का मांस खाएगा। डोम और मुसलमान दोनों के धर्म में सूअर का नाम तक लेने की मनाही है। सूअर का नाम सुनते ही लोग थू-थू करने लगे। लोगों ने अपने हाथ का मटन दूर फेंक दिया। कुछ औरतें नानी को मारने के लिए आईं तो कुछ औरतों ने नानी को 'सत्यानाश हो जाए' इस तरह की गंदी-गंदी गालियाँ दी। शोर सुनकर कुछ जवान लड़के वहाँ गया और इस प्रकार देख उन्होंने नानी को शाबाशी दी।"[84] मराठी डोम समाज में सूअर को एक अपवित्र पशु माना गया है। इसीलिए उसका भोजन कोई नहीं करता है। अतः नानी के द्वारा कसम देने पर लोग उन्हें बुरा-भला कहते हैं। लेकिन कुछ पढ़े-लिखे व्यक्ति शाबाशी भी देते हैं कि चलो इसी बहाने अब लोग मरे हुए जानवरों का मांस नहीं खाएंगे। मराठी दलित आत्मकथा में बलि के रूप में जानवरों का प्रयोग बहुत मात्रा में दिखाई देता है। बकरे, भैसें आदि की बलि अपने आराध्य देवता को चढ़ाते हैं जिसका उल्लेख लक्ष्मण गायकवाड ने किया है। "वर्षों से तेल और सिंदूर उँड़ेलने से अब तक यह ,देवी माँ' साठ-सत्तर किलो की हो गई थी। एक मंगलवार को बड़े सवेरे उठकर डफली बजाते हुए बकरे को इस मंदिर तक लाया गया। करीम चाचा को बुलाया गया। परिवार का प्रत्येक सदस्य बारी-बारी से बकरे के पास गया। सबने उस पर हल्दी-सिंदूर छिड़ककर उसके पैरों का स्पर्श किया। सबसे पहले मुझे कहा गया और सबसे आखिर में माँ ने पानी छोड़कर बकरे के पैर छुए। बकरा संकट को शायद महसूस कर रहा था। वह छटपटाने लगा। करीम चाचा ने उसे जमीन पर लिटा दिया। एक गड्ढे के निकट उसकी गर्दन पकड़कर करीम चाचा ने जोर से कहा, "या अल्लाह।" और कुछ क्षणों में उसने बकरे का सिर धड़ से अलग कर दिया। खून तेजी से बहने लगा। उस तथाकथित मंदिर के सामने वह गड्ढा खून से भर गया।"[85] दलित समाज की मान्यताओं में  बकरे बलि एक मुस्लिम व्यक्ति करीम दे रहा है। उठाईगीर समाज के देवी-देवता को यह चढ़ाया जा रहा है। यह एक अनोखी घटना दिखती है कि किसी दलित समाज में किसी अन्य धर्म का व्यक्ति बलि दे रहा है। लेकिन किसी भी प्रकार का कोई वैमनस्य नहीं दिखता है। हिंदू धर्म में मुस्लिमों

को लेकर एक विरोध साफ-साफ देखा जा सकता है, लेकिन दलित समाज के साथ मुस्लिम का सम्बन्ध हिन्दुओ जैसा नहीं है। लक्ष्मण गायकवाड एक अन्य धार्मिक मान्यता के विषय में बताते हैं कि "मेरे गाँव से तीन कोस पर देवताला की देवी है। उस देवी के यहाँ महीने के पंद्रह दिन यात्रा होती हैं। दूर-दूर से लोग आते हैं। मेरे रिश्ते की शेवंता इस देवी की आराधिका थी। चार-पाँच औरतें मिलकर जोगना माँगने निकलतीं। मैं शेवंता के पीछे-पीछे हो लेता। हाथ में घर की परड़ी होती। गले में कौड़ियों की माला पहनता। देवताला पहुँचने तक जितने गाँव लगते, वहाँ जोगना माँगता। जवार की रोटियाँ, गेहूँ की चपातियाँ अथवा गेहूँ और बेसनयुक्त रोटियाँ लोग परोसते।"[86] लक्ष्मण गायकवाड जोगना मातृसत्तात्मक पद्धति के कर्मकांड के है यह आराधिकाएँ होती है जो मंगलवार और शक्रवार को घर-घर देवी के नाम पर भिक्षा माँगती है। लक्ष्मण गायकवाड बालाजी के पूजा विधि को भी बताते हैं कि दलित एवं हिंदू जातियों के पूजा पद्धति अलग-अलग है। "हमारे समाज में अनेक उपजातियाँ हैं। लातूर के पास लामजना नामक छोटा-सा गाँव है। वहाँ के वर्मा-बंडगर तिरुपति के बालाजी हो आए थे। वहाँ से लौटने पर उन्होंने वड़ार समाज का एक कार्यक्रम रखा था। इस कार्यक्रम के लिए आंध्र और कर्नाटक से इस जाति के लोग आए थे। मुझे भी बुलाया गया था। इस कार्यक्रम को देखते समय मैंने यह महसूस किया कि अन्य हिंदू लोग बालाजी कि जिस प्रकार पूजा करते हैं, यहाँ ठीक उससे उल्टा होता है। वर्मा बंड़गर तिरुपति हो आए और इसलिए उनके साथ बालाजी भी आए थे, ऐसी जाति की श्रद्धा है। इस कारण कार्यक्रम होने तक जो तिरुपति हो आए थे, उन्हें एक कमरे में बंद कर दिया गया था। कार्यक्रम शुरू हुआ। वड़ार समाज के ये लोग एक तेलुगु गीत गाने लगे, नाचने लगे, लोकवाद्य बजाने लगे। प्रसाद बनवाया गया था। वर्मा- बंडगर जिस कमरे में बंद थे वहाँ सब लोग प्रसाद लेकर गए। वर्मा-बंडगर को बाहर निकालकर नहलाया गया। गीले कपड़ों से उनकी शोभा यात्रा निकाली गई। वाद्य बज रहे थे।"[87] दलित समाज धार्मिक मान्यताओं, रीति-रिवाज हिंदू समाज से अलग है। उनके ज्यादातर देवी-देवता भी अलग है। उर्मिला पवार अपनी आत्मकथा में बताती हैं कि होली के लिए जब पूजा-पाठ होता था तो गाँव के लोग इकठ्ठा होकर मनाते थे कि "अँधेरा होते-होते

मंदिर के पुजारी से पूजा करवाकर होली जलाई जाती थी। वहाँ पर एकत्रित, गाँव के बड़े बुजुर्ग, मराठे, भंडारी, कुणबी आदि गाँव के भले के लिए आह्वान किया करते थे। इस आह्वान में एक तो ऐसा आह्वान था कि- गाँव की बला टल जाये और महारों के सिर पर पड़े।' आह्वान के बाद दी जाने वाली गालियाँ भी महारों की काफी मिट्टी-पलीद होती थी, लेकिन प्रतिवाद करने का साहस महारों में नहीं था। इसके अलावा एक और रिवाज भगवान की पालकी नचाने का था। रेशमी फुँदने लगी भगवान की पालकी कंधों पर रखकर बड़े जोश में, जलती होली के इर्द-गिर्द रचायी जाती थी।"[88]

दलित समाज में धार्मिक मान्यताओं के साथ-साथ कुछ अंधविश्वास भी व्याप्त थे जिनको लेकर दलित समाज एक परंपरा के रूप में कार्य करता था। इस समाज में भूत-प्रेत को लेकर के अंधविश्वास बहुत गहरे तक है। यह हिंदी और मराठी दोनों आत्मकथा में देखने को मिलता है। जिसका उल्लेख मोहनदास नैमिशराय अपनी आत्मकथा में करते हैं। "यूँ भूत-प्रेत उतारने का कार्य कलिया का मर्द यानी भगवान सहाय ही करता था। वह इस कार्य में सिद्ध हो गया था। शायद ही कोई ऐसा दिन बिना नागा के जाता जब कोई भुतमाया आदमी या भूतियाई औरत उसके दरवाजे पर आकर टक्कर नहीं मारते थे। उनके पास आदमियों से अधिक औरतें ही आती थीं। ऐसे समय पर कलिया केवल आग में चिमटा गर्म करना, आग में मिर्च डालना, धूप, अगरबत्ती या लोबान जलाने के साथ हाथ-पाँव पटकते हुए या खेलती हुई भुतियाई औरत को पकडे रखती थी। दूसरी तरफ भगत उसके बाल या चोटी पकड़ कर आरम्भ में सीधी-सीधी पूछता, "बोल कहाँ से आया तू ,पटियाले से या मवाना से।" मेरठ के पास मवाना नाम के दो कस्बे थे। छोटा मवाना और बड़ा मवाना। भगत कुछ देर बाद पूछता, "छोटे मवाना से या बड़े बवाना से।"[89] दलित समाज में भूत-प्रेत ज्यादा देखने को मिलते हैं। क्योंकि दलित समाज में अज्ञानता और अशिक्षा व्याप्त है। जब भी कोई बीमार होता, तो उनको अस्पताल न ले जाकर झाड़-फूँक करवाते थे। जिसका उल्लेख ओमप्रकाश वाल्मीकि भी अपनी आत्मकथा में करते हैं। "बस्ती में जब भी कोई बीमार पड़ जाता, दवा- दारू करने के बजाय भूत-प्रेत की छाया से छुटकारा पाने के कार्य, झाड़-फूँक, टोने-टोटके, ताबीज, गंडे, भभूत आदि की आजमाइश शुरू हो

जाती थी। ये तमाम काम रात में किए जाते थे। जब बीमारी लंबी खिंच जाती थी या गंभीर रूप ले लेती तो किसी भगत को बुलाकर 'पुच्छ' जाती थी। ऐसे समय में भगत के साथ एक ढोलक बजानेवाला, दो-तीन गानेवाले होते थे। जो ढोलक की खास ताल पर एक ही सुर पर गाना गाते थे। गाने में उस देवता का आह्वान होता था, जिसे भगत के शरीर में प्रविष्ट होकर झूमना है। लय- ताल-सुर से ऐसा माहौल बना दिया जाता कि अच्छा खासा व्यक्ति झूमने लगे। गाने में अशिष्ट शब्दों की भरमार होती थी,जो देवता के प्रति आत्मीयता दिखाने की अभिव्यक्ति थी।"[90] दलित समाज में ताबीज, झाड़-फूँक, टोने-टोटके आदि का प्रयोग दिखता है। जब भी बीमारी या महामारी आती है तो इसका प्रयोग दलित करता है। दलित समाज में शिक्षा न होने के कारण इसका प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ ही रहा था। जिसका उल्लेख तुलसीराम ने अपने आत्मकथा मुर्दहिया में किया है। "मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत थी। मानव जाति का वह पहला व्यक्ति जो जैविक रूप से मेरी खानदानी पूर्वक था, उसके और मेरे बीच न जाने कितने पैदा हुए, किंतु उनमें से कोई भी पढ़ा-लिखा नहीं था। लगभग तेईस सौ वर्ष पूर्व यूनान देश से भारत आए मिनांदर ने कहा कि आम भारतीयों को लिपि का ज्ञान नहीं है, इसलिए वह पढ़-लिख नहीं सकते। उनके समकालीनों ने तो कोई प्रतिक्रिया नहीं दी, किंतु आधुनिक भारतीय पंडों ने मिनांदर का खूब खंडन- मंडन किया। हकीकत तो यह है कि आज भी करोड़ों भारतीय मिनांदर की कसौटी पर खरा उतरते हैं। सदियों पुरानी इस शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि मूर्खता और मूर्खता के चलते अंधविश्वासों का बोझ मेरे पूर्वजों के सिर से कभी नहीं उतरा...।"[91] तुलसीराम अंधविश्वास का मूल कारण इस समाज की अशिक्षा मानते हैं अशिक्षा के कारण उनमें मूर्खता है। उसी मूर्खता के कारण वह अंधविश्वास का पालन करते हैं। जिसके परिणाम उनके परिवार में भी देखने को मिलते हैं। इनके दादा खेत में फसल की रखवाली के लिए जाते हैं, वहाँ इनकी कुछ लोग मिलकर हत्या कर देते हैं। लेकिन परिवार और गाँव वाले सोचते हैं कि भूतों ने ही मिलकर दादा को मारा है। दूसरी घटना का जिक्र करते है जिसमे वह खुद अन्धविश्वास का शिकार होते है। तुलसीराम को चेचक निकलने के कारण झाड़-फूँक किया गया, जिस कारण उसकी एक आँख से दिखना बंद हो जाता है। ब्राह्मणों के द्वारा मानने

वाले एक अंधविश्वास का उल्लेख करते है। "मुर्दहिया के संदर्भ में सन 1957 का भादो का महीना मेरे जीवन का एक विशेष यादगार महीना है। उस समय हिंदू धर्म के अनुसार 'खरवांस' यानी बहुत अपशगुन वाला महीना था। इस बीच मेरे पिता जी जिस सुदेस्सर नामक ब्राह्मण की हरवा करते थे, उसकी बुढ़िया मां मर गई। उनके ही पट्टीदार अमिता पांडे ने 'पतर' देखकर बताया कि अभी पंद्रह दिन खरवांस है, इसलिए मृत मां का दाह-संस्कार नहीं हो सकता। यदि ऐसा किया गया तो माता जी नरक भोगेंगी। उन्होंने सुझाव दिया कि माताजी की लाश को मुर्दहिया में एक जगह कब्र खोदकर गाड़ दिया जाए, तथा पंद्रह दिन बाद निकाल कर लाश को जलाकर दाह-संस्कार हिंदू रीति से किया जाए। मेरे पिता जी मुझे लेकर मुर्दहिया पर कब खोदने गए। वे फावड़े से कब्र खोदते रहे और मैं मिट्टी हटाता रहा। जब कब्र तैयार हो गई तो सुदेस्सर पांडे अपने पट्टीदारों के साथ लाश को लाकर उस कब्र में डाल दिए। तुरंत उसको मिट्टी से पाट दिया गया। दफनाने से पहले टोटकाबश सुदेस्सर पांडे ने कफन के एक कोने में सोने की मूनरी गठिया दी थी। एक अंधविश्वास के अनुसार किसी लाश के कफन में सोना बांधने से वह जल्दी नहीं सड़ेगी।"[92] ऐसा नहीं है कि दलित समाज में ही अंधविश्वास है, हिंदू धार्मिक मान्यताओं में भी अंधविश्वास है। वह अंधविश्वास शिक्षा के कारण नहीं बल्कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था के कारण है। दलितों में अंधविश्वास अशिक्षा के कारण है, दलित समाज शिक्षित हो जायेगा तो अंधविश्वास अपने आप दूर हो जाएंगे। श्यौराज सिंह बेचैन एक ऐसी घटना का जिक्र करते हैं जिनमें उनके परिवार के सदस्यों को अंधविश्वास के चक्कर में आकर भूत पकड़ा है ऐसा कहा जाता है। "चाचा को एक के बाद एक उल्टियाँ हो रही थीं। उनके शरीर में पानी की कमी की पूर्ति नहीं की गयी। सवेरे तक उनकी शारीरिक दशा खराब हो गयी। मैं पाँच-छ साल का बच्चा रोने, डरने और घबराने के सिवाय कुछ भी नहीं कर पा रहा था। उस रात का डर आज तक मेरे भीतर नहीं निकला। ऐसे ही कुछ डर और भी हैं जो मेरे भीतर जड़ें जमाए बैठे हैं। पर वह डर गहरा और प्रभावी था। उपचार परंपरागत हुआ। वह झाड़-फूँक और वही भूत पूजा। कोई यही सही नयी पद्धति का इलाज नहीं हुआ। वह जान-बूझ कर नहीं कराया गया था, यह कहना शायद इल्जाम हो। असल बात लोगों में गहरी अज्ञानता,

शिक्षा और अंधविश्वास का होना था। ज्यादातर स्त्रियों का कहना था कि चूँकि रात के बारह बजे राधे ने घेर के सामने के चौराहे पर पेशाब कर दिया था, इस कारण चौराहे वाली चुड़ैल ने उसे पकड़ लिया है। जब तक बड़े 'सयाने-ओझाओं' द्वारा चौराहे वाली से बड़े देवी-देवता नहीं बुलाया जाएँगे तब तक राधे का इलाज नहीं हो सकेगा।"[93] श्यौराज सिंह बेचैन इन अंधविश्वासों का मूल कारण अज्ञानता एवं शिक्षा को मानते हैं। उनके अनुसार जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होगा और लोग ज्ञान-विज्ञान की उन्नत सभ्यता और संस्कृति के संपर्क में आएंगे दलित समाज में भूत-प्रेत और अंधविश्वास खत्म हो जाएगा। कौशल्या बसंती अपनी आत्मकथा दोहरा अभिशाप में बताती हैं कि दलित समाज में किसी भी रोग या जानवर के काट लेने से ओझा बुलाए जाते है जिसका उल्लेख करती हैं। "एक दिन आजी के भाई खेतों में जाने की तैयारी कर रहे थे कि उसी वक्त अचानक आजी के ससुराल वालों ने किसी आदमी को भेजकर खबर दी कि आजी के पति की मृत्यु हो गई। आजी के पति खेत के काम से फारिग होकर दोपहर का खाना खाने के बाद एक आम के पेड़ के नीचे सुस्ताने को लेटे और उनकी थोड़ी देर में आँख लग गई थी। ठीक उसी वक्त एक जहरीले साँप ने उन्हें डस लिया। गाँव में कोई डॉ.क्टर नहीं था। झाड़-फूँक करने वाले ओझा को बुलाया गया परंतु कुछ फायदा नहीं हुआ और वे चल बसे। आजी के मायके और ससुराल में भी रोना-पीटना शुरु हो गया था। भाई-भाभी को रोता देखकर वह भी रो रही थीं और टुकुर-टुकुर सबकी ओर देख रही थी।"[94] साँपों के काटने को लेकर आज भी गाँवों में झाड़-फूँक अभी भी किया जाता है। जिससे कई लोगों की मृत्यु हो जाती है जबकि अब सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों पर इसके इलाज की सुविधाएँ मिल रही है। लेकिन एक अंधविश्वास लोगों में चला रहा है कि साँप झाड़-फूँक से ठीक होता है। साँपों में कई प्रजातियाँ होती है जिसको काटने से मनुष्य की मृत्यु नहीं हो सकती है, कुछ प्रजातियाँ ऐसी हैं जिनके काटने से व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। अतः कुछ व्यक्ति तो बिना इलाज के भी ठीक हो सकते हैं, तब यह मान लेते हैं कि झाड़-फूँक के द्वारा ही यह ठीक हुआ है। इसीलिए लोगों का विश्वास भी बना हुआ है।

दलित समाज ही नहीं पुरे समाज में मान्यता है कि जब व्यक्ति को बच्चा पैदा न हो तो भगवान के यहाँ मनौती मानी जाती है जिससे बच्चा पैदा होता है। जबकि भगवान का बच्चे पैदा होने से कोई मतलब नहीं है। कौसल्या बैसंत्री अपनी आत्मकथा में बताती हैं कि "मेरा जन्म 8-9-26 को एक खलासी लाइन बस्ती में हुआ था। बड़ी बहन जनाबाई के बाद लगातार एक भाई और दो बहनों की मृत्यु हो गई थी इसलिए आजी और माँ शिवजी भगवान के मंदिर के बाहर खड़े होकर प्रार्थना की और भगवान से मन्नत माँगी कि अगर मैं दस वर्ष की हो जाऊँगी और मेरे बाद जो बच्चे पैदा होंगे वे जीवित और स्वस्थ रहेंगे तो वह शिवजी के मंदिर में जाकर बकरे की बलि देगी और मेरे वजन के बराबर चावल और गुड चढाएगी। तब बलि प्रथा हमारे अस्पृश्य समाज में चल रही थी। माँ और आजी ने मंदिर के बाहर से ही भगवान की लंबी आयु के लिए प्रार्थना की थी क्योंकि अछूतों को मंदिर में जाने की मनाही थी।"[95] दलित समाज में बलि एक आम धरणा है, इसे अंधविश्वास इसलिए कहा जाता है क्योंकि कोई भी कार्य करने के लिए व्यक्ति के काम जरूरी होते हैं। भविष्य के भरोसे या भगवान के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है इन अंधविश्वासों का मूल कारण अशिक्षा है। जिसका उल्लेख दोहरा अभिशाप में हुआ है। "कभी माँ को तो कभी बहन को बच्चा होता था। बहन की लड़की और मेरे भाई की उमर एक ही बराबर है, तीन एक महीने का फर्क होगा। बहन के एक मृत लड़के की उमर मेरी एक बहन की बराबर थी। माँ के बच्चा होने पर कभी जीजाजी मिलने आते थे, तो माँ को बहुत शर्म महसूस होती थी। उस समय खाना खाने, पानी पीने की तरह ही बच्चे होना भी सामान्य काम समझा जाता था। कहते, ये भगवान देता है, भगवान की मर्जी है, क्या करें! अशिक्षा, अज्ञान की वजह से ही उनकी ऐसी सोच थी।"[96] दलित समाज एवं पुरुषवादी समाज लड़के के लिए बच्चें पैदा करता है जिससे पालन-पोषण के लिए कोई साधन नहीं है। अशिक्षा के कारण समाज में जागरूकता भी नहीं थी। पहले बच्चे इसलिए भी ज्यादा पैदा किये जाते थे कि बच्चों की मृत्युदर अधिक थी। अतः अशिक्षा और अज्ञानता के कारण यह स्थिति है। उर्मिला पवार अपनी आत्मकथा में बताती हैं कि "बाबा की मृत्यु के बाद हमारे घराने में चली आ रही वृत्ति अब शाहू करने लगा।

हमारे समाज में ऐसा माना जाता था कि जन्म लेने के बाद बच्चे को जब तक जाति-धर्म के संस्कार नहीं दिए जाते, समाज में मान्यता नहीं मिलती। इसलिए हर बच्चे को पाँच-छ: वर्ष की उम्र में गुरु की गोद में बिठाकर गुरुमंत्र दिया जाता था। गुरु बनने योग्य या तो वे व्यक्ति होते थे जो पैदल पंढरपुर जा कर जीवित वापस लौटे हों या फिर जिसके घराने में परंपरागत रूप से वृत्ति चली आ रही हो। 'गुरु' धार्मिक विधि-विधान के साथ-साथ भूत भगाने का भी काम करते थे। बारह वर्ष की उम्र से ही शाहू धार्मिक विधि करता आ रहा था। बाबा की ही तरह वह भी मंत्र पढ़ कर भूत उतरता था। लेकिन बड़े-बड़े भूत, जो खून की उल्टियाँ करवा के पलभर में आदमी को खत्म कर सकते थे या जीवन भर के लिए अपाहिज बना सकती थे इसे 'लोलंगी भूत' उतारने वाले बाबाजी भी खास होते थे।"[97] दलित समाज में मान्यताएँ, रीति-रिवाज केवल दलित समाज ही करता था। दलित समाज में धार्मिक परिवर्तन भी मिलता है जिस डॉ. भीमराव अंबेडकर के बौद्ध धर्म के स्वीकार के बाद ज्यादातर दलित हिंदू धर्म से बौद्ध धर्म स्वीकार रहे हैं। कई ऐसे भी हैं जो बौद्ध धर्म के स्थान पर इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म भी स्वीकार कर रहे हैं। अतः दलितों के यहाँ एक धर्म का नाम नहीं दिया जा सकता उनकी मान्यताएँ उनकी रीति-रिवाज सबसे अलग हैं।

## 5.3 कथावस्तु एवं कथाशिल्प:

हिंदी साहित्य में आत्मकथा एक महत्त्वपूर्ण विधा के रूप में है। जिसमें कल्पना का सहारा ना लेकर के यथार्थ चित्रण किया गया है। हिंदी साहित्य में आत्मकथा की प्रसिद्धि दलित साहित्य से मानी जाती है। दलित साहित्य में भी आत्मकथा मराठी भाषा में सर्वप्रथम लिखी गई। हिंदी साहित्य में 1980 के बाद आती है, हिंदी साहित्य की प्रथम आत्मकथा 'अपने-अपने पिजरे' मोहनदास नैमिशराय के जीवन चरित्र का वर्णन है। यह आत्मकथा मेरठ शहर के जीवन चर्या का वर्णन है। इस शहर की अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी रही है। मोहनदास नैमिशराय अपने मोहल्ले का वर्णन करते हैं कि शहर में अनेक बस्तियाँ हैं। सब बस्तियाँ जाति के आधार पर विभाजित है। मेरठ शहर में हिंदू के साथ-साथ मुस्लिम समुदाय में निवास करता है। मोहनदास नैमिशराय की बस्ती के बगल में मुस्लिम

समाज रहता है। मुस्लिमों का संबंध दलितों से बेहतर ही रहा है। किसी भी त्योहार या उत्सव में दलित मुस्लिमों के यहाँ से उपहारों का आदान-प्रदान होता है जैसे बकरीद में मांस और ईद में सेवई लेने के लिए दलित बस्ती के लोग उनके यहाँ जाते हैं। लेकिन जब शहर में दंगे होते हैं, तो दलितों को मुसलमान हिंदू समझते हैं और हिंदू इनको अपना बना लेते लेकिन जैसे ही दंगे ख़त्म होते तो हिन्दू दलित समझकर इनका शोषण एवं अत्याचार भी करते हैं। इसका उदाहरण उन्होंने अपनी आत्मकथा में किया। इस आत्मकथा में विद्यालय में होने वाली असमानता का वर्णन भी करते हैं। एक तरफ तो अध्यापक बच्चों को अहिंसा और सामाजिक सुधार के बारे में बताते हैं तो दूसरी तरफ उनके साथ पिटाई और जातिवादी व्यवहार भी करते हैं। दलित साहित्य में यह मुख्य रूप में दिखाई देता है दलित चाहे जितना भी पढ़ ले फिर भी जातिवाद उनका पीछा नहीं छोड़ता है। मोहनदास नैमिशराय नौकरी की तलाश में दिल्ली तक की यात्रा करते हैं। लेकिन 1971 में स्नातक करने के बाद दिल्ली प्रशासन में क्लर्क की नौकरी हेतु लिखित परीक्षा पास की, लेकिन उन्हें नियुक्ति पत्र प्राप्त ना होने के कारण नौकरी नहीं मिलती है। जिसके कारण उनके पिताजी गुस्सा होते हैं। इसके बाद उन्हें मेरठ छावनी में क्लर्क की नौकरी के बाद इंटर कॉलेज में लेक्चरर नियमित नौकरी मिलती है। विद्यालय में अधिकतर शिक्षक आरक्षण के खिलाफ आग उगलते और अपना उनका व्यवहार शिक्षा विरोधी है और वह स्वयं तो पढ़ाते ही नहीं थे और दूसरों को पढ़ने पर हतोत्साहित भी करते थे। लेखक का विवाह दिल्ली में होता है। विवाह के पक्षधर एक दूसरे की संपत्ति का विश्लेषण करते हैं, जबकि यह एक पारिवारिक सामाजिक उत्सव है। विवाह में सभी सामान मिला लेकिन टीवी न मिलने के कारण परिवार के लोग दुखी होते हैं। और कहते हैं कि जैसे परिवार में नई बहू के आने से उजाला ही नहीं हुआ। मोहनदास नैमिशराय का संबंध अपनी पत्नी के साथ बेहतर नहीं रह पाता और वह बात में झिड़क देते हैं। यह स्वीकार करते हैं कि उनके अंदर भी एक पितृसत्तात्मक सत्ता निवास करती है जो उन्हें उस स्त्री पर अपना अधिकार जताने को कहती है। इनकी पत्नी के घर में सारी सुविधाएं थी लेकिन मोहनदास मोहनदास नैमिशराय के घर बिजली ही नहीं है। इस कारण उनकी पत्नी को ज्यादा तकलीफ होती है

तो इन्होंने दहेज के सामान लेकर की तिल्ली शिफ्ट कर जाते हैं। लेखक आगे कहते हैं कि विवाह दो परिवारों को जोड़ता है लेकिन मेरा विवाह ने मेरे परिवार को ही तोड़ दिया। जाति प्रथा की पीड़ा पूरी आत्मकथा में दृढ़ता पूर्वक सामने आई है। दलित चेतना को मराठी से हिंदी के साहित्य में लाकर जोरदार ढंग से उठाने वाले दलित आत्मकथाकार के रूप में सफल रहे है। अपने पारिवारिक दायित्व की अपेक्षा सामाजिक सक्रिय में अधिक रहें।

**जूठन**

भारतीय समाज के वर्तमान परिपेक्ष में जाति एक महत्त्वपूर्ण घटक है। सन 1997 में प्रकाशित ओमप्रकाश वाल्मीकि की रचना जूठन भारतीय समाज के वर्ण व्यवस्था को आदर्श व्यवस्था करने वालों के सम्मुख जातिवादी समाज के क्रूर और अमानवीय रूप को सामने रखा। आत्मकथा के प्रारंभ में दलित बस्तियों के त्रासदी का खुला चित्रणमिलता है। उन्होंने अनुभूतियों समाजवादी विचारों से परिचित कराया। जूठन निम्नस्तर पर जीवन यापन कर रहे समाज की अभिव्यक्ति है। जूठन में दलित विद्यार्थियों के साथ अध्यापकों केअमानवीय व्यवहार का भी वर्णन मिलता है। गाँव में विद्यालय के लिए जगह नहीं है इसलिए सवर्णों के घरों में विद्यालय चल रहे हैं, जहाँ पर दलित समाज के साथ जातिवादी व्यवहार किया जाता है। महाभारत में अश्वत्थामा द्वारा आटा के घोल को दूध के रूप में पीकर जीवन जीने की कला को समाज ने बहुत ही प्रेरक माना है जबकि दलित समाज तो दूध ही नहीं वह तो भोजन के लिए लड़ रहा है, मरे हुए जानवरों का मांस खा रहा है। ऐसे समाज से कोई प्रेरणा क्यों नहीं ले रहा है, इनकी मदद एवं सहयोग क्यों नहीं कर रहे हैं? जूठन आत्मकथा में ओमप्रकाश वाल्मीकि 'सलाम' प्रथा का जिक्र करते हैं जिसमें नवविवाहित पुरुष अपने ससुराल के उन घरों में सलाम करने जाता है जिनके यहाँ उनके परिवार के लोग काम करते हैं या सफाई करते हैं। इसी भांति लड़की भी जब ससुराल आती है तो उन घरों में जाकर सलाम करती है जिन घरों में उनके परिवार के

लोग काम करते हैं या सफाई करते हैं। इस प्रथा को ओमप्रकाश वाल्मीकि ने अपने परिवार की शादी में तोड़ा और सलाम प्रथा करने से मना कर दिया। दलित रचनाकार द्वारा यह प्रश्न उठाया जाता है कि दलित हिंदू हैं कि नहीं? और यदि हिंदू है तो उनके साथ इतना भेदभाव क्यों किया जाता है? आत्मकथा दलित समाज की आर्थिक दिक्कतों की ओर भी इशारा करती है। जिसमें दिन-रात मेहनत मजदूरी के बाद भी वह कर्ज में डूबे रहते हैं। दलित समाज अंधविश्वास और भूत-प्रेत में ज्यादा विश्वास करता है। अशिक्षा और अज्ञानता के कारण इससे छुटकारा नहीं पा रहा है। आत्मकथा समाज में व्याप्त जातिवाद और शोषण को रेखांकित करती है। जातिवाद का शिकार दलित समाज जरूर है लेकिन यह केवल दलित-पिछड़ों की समस्या नहीं है इसके विपरीत दलितों-पिछड़ों के अंदर जो जातिवाद है उनकी बात करता है। उन्हें दूर करने के उपाय के में डॉ.. भीमराव अंबेडकर के विचार को रखता है। जूठन आत्मकथा के दूसरे भाग में  रचनाकार जब नौकरी प्राप्त कर लेता है तो शहर में रहने के लिए वह कमरे की तलाश करता है। उन्हें दलित जाति के कारण कमरा नहीं मिलता है लेकिन कुछ सवर्ण लोग उसकी मदद करते हैं, उन्हें कमरा दिलाने में उनके साथ-साथ जाते हैं। समाज में व्यक्ति महत्वपूर्ण है ब्राम्हण होकर भी वह दलितों का साथ दे रहे है। दलित-दलित होकर भी निम्न दलित का शोषण करता है। ब्राह्मणवादी सोच इसका मुख्य कारण है जब तक यह सोच समाज में व्याप्त रहेगी शोषण एवं अत्याचार होता रहेगा।

**शिकंजे का दर्द**

यह सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा है। जिसमें महिलाओं के प्रति समाज के नजरिये को दर्शाया है। महिलाओं के लिए शिक्षा के अधिकार न के बराबर थे लेकिन आजादी के बाद महिलाओं को भी यह अधिकार प्राप्त हुआ कि वह भी शिक्षित हो सके। दलित समाज में यह  समस्या और भी गहरी दिखाई देती है क्योंकि वहाँ पुरुष ही शिक्षित नहीं है तो महिलाओं की क्या बात की जाए।

लेकिन आजादी के बाद से महिलाएं शिक्षित हो रही थी। उसका प्रभाव दलित समाज पर भी देखने को मिल रहा है। सुशीला टाकभौरे जब शिक्षा प्राप्त करने विद्यालय में जाती हैं तो उनके साथ आदिवासी अध्यापक तो ठीक तरीके का व्यवहार करते हैं लेकिन सवर्ण अध्यापक का व्यवहार असमानता पूर्ण होता है। सुशीला शिक्षित होकर उच्च पद प्राप्त करते हैं लेकिन वहाँ भी जाती है तो जाति उनका पीछा नहीं छोड़ती है। तो उनके मन में ख्याल आता है कि जैसे मेरी नानी सफाई करती थी तो वह भी जाति का दंश झेल रही थी, और मैं भी उच्च पद प्राप्त करने के बाद अगर जाति का दंश झेल रही हूँ तो मुझ में और मेरी नानी के जीवन में क्या अंतर है। लेखिका पहले स्कूल शिक्षक और बाद में प्राध्यापिका नियुक्त होकर निरंतर सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक के लिए सक्रिय रही। समाज का सम्यक विकास स्त्री-पुरुष की समान सहभागिता से होता है, लेकिन भारतीय समाज स्त्री-पुरुष के संबंध को कभी समान स्वीकार ही नहीं करती है तो विकास की बात ही नहीं की जा सकती। भारतीय समाज पितृसत्तात्मक समाज है जहाँ पुरुषों को सारे अधिकार प्राप्त हैं और महिलाओं को केवल काम करने के लिए ही रखा गया है। सुशीला शिकंजे की बात करती हैं जिसमें एक महिला धीरे-धीरे फँसती चली जाती है और फँसाने का कारण परिवार के लोग हैं। जो महिलाओं का विवाह दुगनी आयु के पुरुषों के साथ कर देते हैं। यही सुशीला के साथ भी हुआ और घर में मारपीट एक स्वाभाविक प्रक्रिया बन गई बात के समय में सुशीला ने सोचा कि जुल्म करने वाले से जुल्म सहने वाला ज्यादा गुनाहगार है। पारिवारिक एवं घरेलू कामों पर उन्हें अपमानित एवं प्रताड़ित किया जाता और वह चुपचाप सहती। पितृसत्तात्मक व्यवहार में उत्पीड़ित महिला इसे अपना भाग्य समझ कर झेलती हैं। स्त्रियाँ बहुआयामी शोषण का सामना करने को मजबूर हैं। उनके शोषण को मर्यादित बना दिया गया है जिसके पीछे दंड विधान काम करते हैं। रचनाकार ने उस शिकंजे को भी बताया है। शिकंजे को तोड़ने की व्यवस्था भी बताई है। यह व्यवस्था डॉ.. भीमराव अंबेडकर के लोकतांत्रिक विचार को अपनाने की प्रक्रिया है। जिससे जीवनस्तर बदलेगा और शोषणकारी मानसिकता कमजोर होगी। जाति व्यवस्था कब खत्म

होगी इस पर लेखिका कहती है कि जब इसकी पहचान की कोई कीमत ना रह जाए, जातिगत और लिंगगत भेदभाव ही शिकंजे को मजबूत कर रहे हैं।

**दोहरा अभिशाप**

दोहरा अभिशाप आत्मकथा में रचनाकार ने अपने माता-पिता के जीवन संघर्षों के विषय में बताया है। दलित समाज में शिक्षा के प्रति चेतना नहीं दिखाई देती है लेकिन कौशल्या बैसंत्री के माता-पिता उन्हें पढ़ाना चाहते हैं और एक बेहतर जिंदगी देना चाहते हैं। दलित समाज के छात्र विद्यालय जीवन में हीन भावना का सामना करते हैं। महिलाओं के साथ छेड़छाड़ की घटनाएं समाज में आम होती हैं। ऐसी ही एक घटना का जिक्र कौशल्या अपनी आत्मकथा में करती हैं कि एक लड़का उन्हें रोज परेशान करता है लेकिन एक दिन वह उनकी फोटो और अपनी फोटो एक साथ लगा देता है। जिससे कौशल्या बैसंत्री को गुस्सा आ जाता है तो वह उसकी पिटाई सड़क पर ही कर देती हैं। लेकिन यह साहस एक लड़की ने बहुत ही कम दिखाई देती है। छेड़खानी का शिकार आज भी समाज में लड़कियाँ हो रही है जिसमें लड़कियों को ही दोषी ठहराया जाता है। आज भी समाज पितृसत्तात्मक समाज के बस में ही दिखाई देता है। लेखिका की नानी के संघर्ष को दिखाया जा सकता है। वह विधवा होने के बाद दूसरी शादी करती हैं लेकिन उस व्यक्ति से संबंध ठीक न होने के कारण अपने तीनों बच्चों के साथ शहर की तरफ बिना किसी को बताए चल पड़ती हैं। रास्ते में उनकी एक पुत्री को तेज बुखार होने के कारण मृत्यु हो जाती है, लेकिन तब भी उनका विश्वास नहीं डोलता है। भारतीय समाज एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करता है जिसमें महिला अपनी पुत्री की मृत्यु की वेदना से बढ़कर इस सामाजिक शोषण को मानती है। इससे मुक्त होना चाहती है। महिला  पुरुष की लंपटता से दुखी तो थी ही साथ ही समाज में बाल-विवाह की प्रथा की अनेक समस्याएं भी इनको झेलनी होती थी। पांच-सात साल की उम्र में ही विवाह हो जाना और गवना जल्दी हो जाने के कारण भयंकर बीमारियों से

मृत्यु हो जाती थी। पुरुष तो दूसरा विवाह कर लेता था। लेकिन महिला जो विवाहित होती थी उसके लिए संकट खड़ा हो जाता था। परिवार स्त्री-पुरुष की समझदारी से चलते हैं। लेकिन पुरुष इस पर पूरा अपना एकाधिकार चाहता है। जिसका उल्लेख आत्मकथा में करती हैं कि पुरुष (पति) आर्थिक नियंत्रण भी करता है जिस कारण परिवार में समानता का भाव नहीं रह जाता। लेखिका ने आत्मकथा में सामाजिक आंदोलनों और उनके प्रभावों की भी चर्चा की है। डॉ. भीमराव अंबेडकर के वैचारिक जीवन का प्रभाव रचनाकार पर दिखाई देता है। आत्मकथा महिलाओं के सामाजिक एवं संवैधानिक अधिर की बात करती है जिसमें समाज के यथार्थवादी स्वरूप की चर्चा भी करती है।

**मेरा बचपन मेरे कंधों पर**

श्यौराज सिंह बेचैन ने 'मेरा बचपन मेरे कंधों' पर आत्मकथा के शीर्षक से यह प्रतीत होता है कि बचपन से ही उनके जीवन की जिम्मेदारी उन पर ही थी। आत्मकथा में यह बात साबित होती है कि इनके पिता की मृत्यु के बाद इनकी माँ जब दूसरी शादी करती हैं, तो सौतेला बाप इन्हें अपना नहीं स्वीकार करता है। जिससे यह अपने माता के पास रहे या अपने पिता के घर रहें इस बात से हमेशा परेशान रहे। इस छोटी सी उम्र में ही जीवन अस्थिर हो जाता है जिसमें अपने जीवन जीने के लिए वह मजदूरी और बेगारी भी करते है। बेचैन अपनी आत्मकथा में चमार एवं जाटवों के बीच के जाति के अंतर की बात करते हैं। जाति से  श्रेष्ठता का बोध अभी भी समाज में बना हुआ है जब तक यह श्रेष्ठता का बोध खत्म नहीं होगा। तब तक जाति समाज में बना रहेगा। शिवराज सिंह बेचैन शिक्षा प्राप्त करने के लिए अदम्य जिजीविषा का परिचय देते हैं। और पोस्ट ग्रेजुएशन तक की पढ़ाई प्राप्त करते हैं।

**मुर्दहिया और मणिकर्णिका**

मुर्दहिया आत्मकथा में तुलसीराम की पहली ही लाइन पूरी आत्मकथा को परिभाषित करती है की 'मूर्खता हमारी जन्मजात विरासत है' अज्ञानता, अशिक्षा ही उन्हें अंधविश्वास की ओर ले जाती है। जिससे उनके दादा की मौत एवं एक उनकी आँख भी चली जाती है। तुलसीराम की आत्मकथा सात भागों में विभक्त है। आत्मकथा एक प्रेरणा के रूप में आती है कि जिसने जीवन में संघर्ष किया या परिस्थितियों से संघर्ष किया वही आगे बढ़ा है। मुर्दहिया शब्द धरमपुर गाँव के श्मशान का नाम है जहाँ पर हमेशा डर का माहौल बना रहता है। अज्ञानता एवं अंधविश्वास की ग्रामीण जीवन की झलक मुर्दहिया आत्मकथा में देखने को मिलती है। यह अंधविश्वास केवल दलितों तक ही सीमित नहीं दिखाई देता, इनकी आत्मकथा में ब्राह्मणों में भी दिखाई देता है जब सुदेश्वर पांडे की माता का देहांत हो जाता है, तो खरमास होने के कारण क्रियाकर्म नहीं किया जा सकता है इसलिए 15 दिन के लिए लाश को दफना दिया और खरमास ख़त्म होने के बाद क्रियाकर्म किया जायेगा। ग्रामीण परिवेश में बीमारियों से बचने के लिए अनेक रूढ़िवादी तौर-तरीके अपनाते हैं। लेकिन दवाइयाँ नहीं लेते है। अंधविश्वास एवं अनपढ़ ग्रामीण समाज के कारण मनोविकार उत्पन्न हो जाने से भूत-प्रेत, चुड़ैल से बचने के लिए ओझा की खोज करते हैं। भूत- भगाने का प्रयास करते हैं। केवल या छुआछूत गाँव में ही नहीं बल्कि विद्यालयों में भी साफ-साफ दिखाई देता है। लेखक के पिता गाँव के ब्राह्मण की हरवाही करते हैं, अंधविश्वास के कारण वह कहते हैं कि अगर मैं हरवाही छोड़ दूँगा तो मुझे पाप लगेगा। व्यक्ति ने एक स्थाई भाव के रूप में यह बात स्वीकार कर ली है। यह आत्मकथा ग्रामीण संस्कृति के चेहरे को व्यक्त करती है, जिसे लोग महान कह कर भी नहीं थकते हैं। जीवन-जगत के समाजशास्त्रीय पहलू को घटित करती है। आत्मकथा का मुख्य पक्ष उसका सौंदर्य विधान है जिसमें लोकरंग और लोकभाषा के रूप दिखाई देता। मणिकर्णिका मुर्दहिया का ही अगला भाग जिसमें तुलसीराम ने उच्च शिक्षा प्राप्त करने के सांस्कृतिक, आर्थिक एवं वैचारिक बाधाओं और मानवीयता तार-तार करने वाले सामाजिक विषमताओं साम्यवादी को रेखांकित किया है। आत्मकथा में ही यह दिखाती है कि कैसे व्यक्ति भूखा रहकर भी पढ़ाई के प्रति सजग है। दलित समाज की आर्थिक स्थिति

ठीक न होने के कारण वह अपने बच्चों को बाहर भी नहीं भेजते थे। पढ़ने के लिए लेकिन तुलसीराम अपने अथक परिश्रम के बल पर मेहनत-मजदूरी करके यहाँ तक पहुँचते हैं। अपनी शिक्षा जारी रखें लेकिन बनारस जैसे शहर में जहाँ यह कहा जाता है कि लोग भूखे नहीं रहते वहाँ पर तुलसीराम कई कई दिन भूखे रहते हैं। जाति के कारण उन्हें घर नहीं दिया जाता है तो वह जाति छुपाकर भी रहते हैं। उनके सहयोगी गोरखनाथ पांडे और अन्य लोग इनके साथ हो रहे अन्यायपूर्ण व्यवहार का विरोध करते हैं। तुलसीराम बी.एच.यू. में आने के बाद की वैचारिक दृष्टि बदलती है। छात्र संघ चुनाव के दौरान बढ़ चढ़कर हिस्सा लेते हैं। कम्युनिस्ट पार्ट के वैचारिकी को समझाते हैं और कि कम्युनिस्ट आंदोलन की नजर नागरिकों की सभी समस्याओं का समाधान आर्थिक साधनों पर ही संभव है, लेकिन भारत में आर्थिक संसाधन कुछ उच्च जातियों के नियंत्रण में है तो यह भारतीय परिपेक्ष में कैसे लागू हो सकता है। डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों से भी प्रभावित होते हैं और कम्युनिस्ट आंदोलन विचारों से अपने आप को दूर करने लगते है। तुलसीराम समाज में भेदभाव, अहिंसा और अत्याचार के खिलाफ खुलकर बोलते हैं। इस आत्मकथा में तुलसीराम ने अपने जीवन के प्रेम के विषय में भी बताते है कि जाति के कारण ही बिछड़ने का सामना भी करना पड़ा। तत्कालीन समाज में घटित दलित उत्पीड़न हिंसा पर विस्तार से जानकारी भी देते है। शेरपुर कांड ने गाँव के कुर्मी जाति द्वारा दलित बस्ती में आगजनी हथियारों से हमला करने से पाँच व्यक्तियों को मार दिया। तुलसीराम आपातकाल, वियतनाम युद्ध हो और समकालीन घटनाओं का जिक्र अपनी आत्मकथा में करते हैं। आत्मकथा उनके जीवन के साथ समाज में घट रही घटनाओं का एक विस्तृत वर्णन है।

**जीवन हमारा**

बेबी काम्बले द्वारा लिखित मराठी आत्मकथा का हिंदी अनुवाद ललिता अस्थाना द्वारा किया गया। आत्मकथा में महाराष्ट्र के वीरगाँव के महार जाति के जीवन की आर्थिक, सामाजिक एवं

सांस्कृतिक वास्तविकता जीवन के चित्रण मिलते है। जिससे उस समुदाय की गरीबी, गुलामी और यातना की तस्वीरें सामने आती हैं। लेखिका की जाति महार है, उपजाति डोम समाज है। लेखिका अपने विषय में बताते हैं कि जब वह एक साल की थी तभी उन्हें बुखार हो गया। तो बुखार उतर नहीं रहा था यह लगभग दस पंद्रह दिन तक रहा। एक दिन शाम छ: बजे उनका शरीर ठंडा पड़ने लगा। माँ एवं परिवार वाले और रोने लगे, बेटी को दफनाने का निर्णय लिया। लड़की को दफनाने के लिए गड्ढा खोद दिया गया था लेकिन माँ की प्रार्थना थी कि उससे पहले जितनी भी लड़कियाँ उनकी मृत्यु हुई थी। वह रात में ही दफन आई गई थी, तो मैं इसे रातभर अपने गोदी में रखना चाहती हूँ। सुबह इसको दफनाया जाए, सुबह होने पर लेखिका ने आँखें खोली उसका जैसे दूसरा जन्म हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि बीमारी के कारण डोम समाज में कई बच्चे जिंदा ही दफना दिए गए हैं। बेबी अपने समाज की स्थिति के संबंध में लिखा है कि उनके वीरगाँव में दलितों के कुल मिलाकर 15-16 घर थे। वे लिखती हैं कि उनमें 2-3 घर की आर्थिक रूप से थोड़े संपन्न थे बाकी सारे घर कीचड़ मिट्टी से मिलकर बने है। छोटे-छोटे घर पर दरवाजे पर पानी पीने के लिए मिट्टी का बड़ा घड़ा, लेकिन उसका मुँह एकदम छोटा इसलिए उसे केली कहते है। उसके केली के मुँह पर नारियल की खोपड़ी का आधार टुकड़ा रखा होता, उसमें तीन छेद बने होते दो को उंगली से बंदकर तीसरे छत पर अँगूठा लगाकर वहीं से गट-गट पानी थे। दरवाजे के पास टूटा-फूटा चूल्हा, चूल्हे के पास तो मिट्टी के बर्तन, लकड़ी का चम्मच, बीच से फटा लोहे का तवा, आटा गूँथने के लिए लकड़ी की परात, रोटी पलटने के लिए लोहे का लंबा हाथ जैसा पतरा, एक कोने में आटा पीसने की चक्की। चूल्हे के ऊपर रस्सी। यह रस्सी हमारे लिए जनेऊ की तरह पवित्र होती है। हमारे जन्म की निशानी होती, उस पर मरे हुए जानवरों की खाल सुखाने के लिए डालते थे। दूसरे कोने पर मैला-कुचैला, फटा हुआ बिस्तर। दलित समाज रोटी के लिए भी बड़ी दिक्कतों का सामना करता रहा होगा और डोम समाज की सामाजिक, आर्थिक स्थिति का वर्णन दिखाई देता है। रहने के लिए इनके घर व्यवस्थित नहीं हैं। काम्बले आगे बताती हैं कि आषाढ़ की पूरे चारों सप्ताह बस्ती में खुशी की लहर होती थी। हर मंगलवार और शुक्रवार डोम मंदिर में जाते

तो वहाँ से गाँव वाले जो पकवान चढ़ाते, उसे लेकर आते थे। फिर उसे गाँव लाया जाता और बराबर-बराबर सब में बाँटा जाता है। इस प्रकार उनके जीवन के सुख में आषाढ़ के महीने में ही आते हैं। क्योंकि खाने के लिए पर्याप्त सामान मिल जाता, आज भी महाराष्ट्र में बहुत जिलों में दलितों के जीवन की खुशियाँ लाने वाला महीना आषाढ़ ही है। आषाढ़ के महीने में गाँव में देवी-देवताओं के मेले लगते हैं। बेबी काम्बले महाराष्ट्र में दलितों की स्थिति के विषय में बताती हैं कि रास्ते पर चलते समय अगर कोई भी सवर्ण दिख जाता था तो उसके लिए रास्ता छोड़कर बगल में खड़ा होकर उन्हें अभिवादन करना होता था। फिर चाहे वह उम्र में छोटा हो या चाहे बच्चा ही क्यों ना। अगर ऐसा नहीं करते हैं तो उन्हें गालियाँ और मारा भी जाता था। दलित समाज जाति व्यवस्था से प्रताड़ित रहा। इसके विरोध में बेबी काम्बले कहती है कि जब खेतों में अनाज की कटाई के वक्त डोमनियों के पैर या जिस्म का पसीना अनाजों में लगता है तो भी तुम्हारे पकवान अपवित्र नहीं होते। हमारी मेहनत से तुम्हारी हवेलियाँ तैयार होती हैं, तो उसमें सड़न पैदा नहीं होती है। फिर हमें छू लेने मात्र से ही तुम कैसे अपवित्र हो जाते हो। डॉ. भीमराव अंबेडकर का प्रभाव बेबी काम्बले पर दिखाई देता है। भगवान की पूजा के संबंध में भी कहती है कि जिस प्रकार महिलाएं धार्मिक कर्म करने में आती है उसी प्रकार महिलाएं बच्चों को शिक्षित करने के लिए आगे आना होगा। हमें पूजा पाठ न करके अपने बच्चों को शिक्षित करना होगा तभी इस गुलामी से मुक्ति मिलेगी। दलित समाज में स्त्रियों की भी स्थिति दासी से कम नहीं है। आदमी अपनी औरत को जानवरों की तरह मारता है। कोई बेहोश हो जाती किसी की कमर टूट जाती, इतना मार खाने पर भी किसी को तरस नहीं आता  है। लेकिन औरतों के साथ बहुत ही अन्याय हुआ है। महिलाऐं पुरुषों पर ही आश्रित कर दी गई है, कुछ जगहों पर तो औरतें ही औरतों की दुश्मन बनी। जीवन हमारा शीर्षक आत्मकथा समाज के यातना भरे जीवन को दर्शाता है। दलितों के जीवन के संघर्ष ही नहीं उनकी मुक्त की प्रेरणा भी देता हैं। भीमराव अंबेडकर के विचार दलित नवयुग जागृति का संदेश इस आत्मकथा में मिलता है।

**उठाईगीरी**

साहित्य अकादमी पुरस्कार लक्ष्मण गायकवाड की आत्मकथा मराठी में प्रकाशित हुई। बाद में राधा कृष्ण प्रकाशन में उठाईगीरी नाम से हिंदी में प्रकाशित हुआ। मराठी भाषा में इसकी सीमाएं थी लेकिन हिंदी भाषा में आने के बाद यह बहुत प्रसिद्ध हुई। लेखक लक्ष्मण गायकवाड तेलुगु के 'संतामुच्चर' जाति से है जिसमें संता का अर्थ है 'बाजार' और मुच्चर का अर्थ है 'चोर'। अर्थात बाजार में चोरी करने वाला, महाराष्ट्र में इस जाति के कई नाम है। लक्ष्मण गायकवाड के अपनी जाति के विषय में लिखा है। जिस समाज में मैं जन्मा जिसे यहाँ की वर्ण व्यवस्था ने नकारा हो, इस व्यवस्था हमें सैकड़ों नहीं हजारों वर्षों से मनुष्य के रूप में जीवन जीने न दिया हो और पशुपत जीवन जीने के लिए मजबूर किया है। अंग्रेज सरकार ने तो गुनहगार का ठप्पा हमारे समाज पर लगा दिया और सब ने हमारी ओर गुनाहगार के रूप में ही देखा। आज भी उसी रूप में देखा जाता है। हमें कोई काम पर नहीं रखता है, खेती करने के लिए जमीन भी नहीं है इस कारण चोरी करके जीना ही एकमात्र उपाय हमारे सम्मुख शेष रह गया। लेखक में छुटपुट चोरियों एवं उठाईगीर लोगों के जीवन चरित्रों का वर्णन किया है। जिसमें चोरी के विशिष्ट पद्धति, चोरी के प्रकार का प्रसंग सहित जानकारी दी है। इसके साथ ही अज्ञानता, अंधविश्वास आत्मकथा का मुख्य विषय है।

**अछूत**

ऐसे लोग जिसे समाज में कोई स्पर्श न करता हो। गाँव में महारों का कोई टाइम टेबल नहीं होता 24 घंटे की नौकर होती। इसे बेगार कहना कहते है। बलुतं दलितों से लिए जाने वाले काम के बदले मजबूरी है। मगर यह एक तरह भी है जो उन्हें उनके किये गए काम के बदले नहीं दी जाती है। बल्कि गाँव में जाकर माँगना पड़ता है। जिसमें रोटी और अनाज दिया जाता है। यह एक प्रकार की अमानवीय प्रथा है जो दलितों के मानवीय सम्मान में और आत्मविश्वास को ठेस पहुंचाती है। स्त्रियाँ

अपने कर्तव्य को लेकर ईमानदार होती है, वह अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए दिन-रात परिश्रम करती हैं लेकिन पुरुष लेकिन शराब एवं अन्य गलत आदतों में ग्रसित दिखाई देते हैं। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने कहा था कि महारी के मन में अपने बेटे के लिए कौन से सपने होते हैं यही कि वह चपरासी और सिपाही बन जाए। लेकिन एक ब्राह्मणी के मन में यह सपना होता है कि उसका बेटा कलेक्टर बने। ऐसी इच्छा महारी माँ क्यों नहीं रखती हैं। इसी भाषण को याद करके उनके परिवारवालों ने उन्हें पढ़ाया। डॉ. भीमराव अंबेडकर के प्रभाव दलित समाज पर दिखाई देने लगे। दलित अपने घर से देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बाहर कर दी। दलितों की पारिवारिक जीवन स्थिति के विषय में भी दया पवार ने बताया कि उनकी माँ के साथ उनकी पत्नी के संबंध में सही न होने के कारण उनकी माँ उनकी पत्नी को उसके मायके छोड़ आती है। जिससे लेखक बहुत निराश होता है और एक मुस्लिम लड़की सलमा के संपर्क में आ जाता है। इससे लेखक के जिंदगी जीने की तमन्ना जागृत हुई। माँ के मरने पर लेखक की जिंदगी उजाड़ हो गई। बकुला की कभी-कभी याद आती, परंतु सई ने अपना रास्ता चुन लिया था उसने किसी एक अधेड़ व्यक्ति से शादी कर ली। इसके उपरांत लेखक ने दूसरी शादी कर ली और दगड़ू का दया बन गया। प्रतिष्ठा मान सम्मान मिला पैसा मिला परंतु लेखक अपने कर्तव्य नहीं भूला लेखक ने बकुला की शादी का सारा खर्चा जिम्मेदारियां उठाई।

**अक्करमासी**

जातिव्यवस्था हिंदू समाज की ऐसी चारित्रिक विशेषताएं जो अन्यत्र नहीं मिलती। शरणकुमार लिंबाले द्वारा लिखित मराठी आत्मकथा 25 सालों के दरमियान उनका चित्रण है। शरणकुमार लिंबाले की माँ और पिता लिंगायत, इस आधार पर शरणकुमार लिंबाले की जाति क्या थी? यह पता नहीं शरणकुमार लिंबाले नाजायज औलाद है यह कोई साबित नहीं कर सकता यह केवल उनकी माँ ही बता सकती है। कोई नहीं शरणकुमार के पिता हणमंता लिंबाले लिंगायत, माँ मसा एमआर माय महार,

बाद में हन्नूरगाँव के यशवंतराव पाटील की रखैल बनी और फिर इस यशवंतराव पाटील से उसने आठ संतानों को जन्म दिया। दादा मुसलमान थे-महमूद दस्तगीर जमादार। लेखक का गाँव महाराष्ट्र-कर्नाटक सीमा पर था। माँ संतामाय की इकलौती संतान थी। माँ का विवाह विट्ठल काम्बले नामक एक गरीब आदमी से कर दिया गया। जो हणमंता लिंबाले के यहाँ सालाना मजदूरी करते थे। विट्ठल कांबले खेत में काम करते, हणमंता लिंबाले की नजर इनके माँ पर पड़ गई। विट्ठल ने माँ को घर से निकाल दिया। परित्याग औरत के सिर पर आँचल नहीं होने के कारण अकेले जीवन जीने का निर्णय लिया। बाद में हणमंता लिंबाले का हाथ थाम लिया। माँ गर्भवती हुई लड़का हुआ लड़के का बाप कौन हणमंता लिंबाले को माँ का शरीर चाहिए था। माँ के इस लड़के के नाम के साथ अगर हणमंता लिंबाले नाम लग जाता तो उसकी बदनामी होती। माँ ने जिस बच्चे को जन्म दिया उसका नाम शरणकुमार। इस प्रकार शरणकुमार का जन्म हुआ और वह अपनी दादी संतामाय के पास रहने लगा। शिक्षा प्राप्त करने के बाद शरणकुमार लिंबाले टेलीफोन विभाग में नौकरी प्राप्त कर लेते हैं। इनके सामने भी यही समस्या आती है कि जाति के कारण ही कमरा किराए पर नहीं दिया जाता है। लेखक के विवाह के लिए भी समस्याएं उत्पन्न हुई, लेकिन मुश्किल से कुसुम के साथ हो गया क्योंकि लेखक को कोई लड़की ही नहीं दे रहा था। लेखक का जीवन भयावह से कम नहीं है जिसमें दरिद्रता, अत्याचार, अपमान, गाली-गलौज, मारपीट सब है। सभी अनुभव को लिया अपने जीवन के 25 साल के तमाम उलटफेर भरे जीवन का लेखा-जोखा सबके सम्मुख रखा है। शरण कुमार लिंबाले की त्रासदी भरा जीवन दिल दहला देने वाला है।

**यादों के पंछी**

यादों के पंछी शीर्षक आत्मकथा लेखक प्रहलाद सोनकांबले ने अपने जीवन के 25 साल के अनुभव को रेखांकित किया हैं। अपने संघर्ष में जीवन अनुभवों को लिखने का प्रयास किया।

मराठवाड़ा के लातूर जिले के उदयपुर तहसील में लेखक सोनकांबले का जन्म हुआ। इनके गाँव में कन्नड़ बोलने वाले अधिक हैं। लेखक की माँ की मृत्यु हो जाने के कारण वह अपनी बड़ी बहन के साथ उनके ससुराल में जाकर रहने लगता है । दीदी उसे बहुत काम कराती हैं, मृत जानवरों के मांस लेने के लिए भेजती हैं, ब्राह्मणों के घर गोबर उठाना, दीदी के घर में साफ-सफाई करना, स्कूल जाना, उनका मुख्य कार्य था। गाँव में सभी की आर्थिक स्थिति खराब थी इस कारण बहनोई नहीं चाहता कि सोनकांबले आगे पढ़े इसलिए मना कर देता है। लेखक ने खुद ही मेहनत-मजदूरी करते हुए मैट्रिक की परीक्षा पास कर लेते हैं। सोनकांबले कभी आम के पेड़ों की रखवाली करते, कभी मूंगफली की और कभी कपास की इनका कभी रोटी माँगकर कभी पत्थर तोड़कर कभी लकड़ियाँ चीरकर कभी मरे हुए जानवरों की खबर, कभी सवर्णों की बहू को उनके मायके से लाने का काम करते। इससे पैसा इकट्ठा करके अपनी शिक्षा अर्जित करते। आगे की पढ़ाई के लिए यह गाँव में घूम-घूम कर चंदा इकट्ठा करके औरंगाबाद के मिलिंद कॉलेज में पढ़ाई के लिए चलें और बाद में अंग्रेजी के प्राध्यापक बने। दलित पढ़-लिख कर चाहे जितना उच्च पद पर पहुंच जायें लेकिन उन लोगों की मानसिकता में बदलाव नहीं आता।

साहित्य समाज का प्रतिबिंब होता है। साहित्यकार समाज के वास्तविक भाषा के माध्यम से पाठकों तक पहुँचने का प्रयास करता है। भाषा, साहित्य की महत्वपूर्ण शिल्प माना जाता है। भाषा, लेखक और पाठक के बीच पुल का काम करता है, इसलिए साहित्य में भाषा बहुत महत्वपूर्ण होती है। भाषा के कारण ही रचनाकार की अभिव्यक्ति प्रकट होती है। दलित साहित्य भी इससे अछूता नहीं है। हिंदी तथा मराठी के विद्वान आलोचक तथा समीक्षकों ने दलित भाषा पर बहुत ही आरोप लगाए हैं। कुछ विद्वानों ने कहा है कि दलितों की भाषा प्रमाणित नहीं है, वह अश्लील एवं आक्रोशित है। परंतु जिसका घर जल रहा हो जिसके जीवन पर ही प्रश्नचिन्ह हो, उससे मधुर भाषा की उम्मीद कैसे की जा सकती है।

हिंदी व मराठी की दलित आत्मकथा का अध्ययन करने पर यह ज्ञात होता है कि सभी दलित लेखकों ने अपनी आत्मकथा में अपने-अपने समाज में बोली जाने वाली देहाती और गाँव की बोली का प्रयोग किया है। लेकिन जैसे आत्मकथा आगे बढ़ती है तो भाषा से लोक तत्व कम हो जाते है। दलित पढ़-लिख लेने के बाद नौकरी और व्यवसाय के कारण जब महानगरों में आ जाते हैं, तो उनकी भाषा में प्रमाणिकता के पक्ष भी दिखाई देते हैं, इसलिए हिंदी और मराठी दलित आत्मकथा में देहाती, शहरी भाषा के मिश्रण मिलते हैं। दलित लेखक जिस समाज में पैदा हुआ है, दुख-सुख का अनुभव किया उस समाज की परंपरा, त्यौहार, उत्सव, श्रद्धा, अंधश्रद्धा आदि का प्रभाव लेखक पर होने के कारण वह उस समाज की भाषा को ही अपनाता है। यदि दलित लेखक अपनी आत्मकथा साहित्य में प्रमाणिक भाषा का प्रयोग करें तो उनके कारण जीवन में संघर्ष होगा वह यथार्थ तथा समाज के हृदय को स्पर्श नहीं कर पाएगा। दलित साहित्य में भाषा ही दलित साहित्य की आत्मा है, भावनाओं की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही हो सकती है। वह सीधे पाठक तक पहुँच सकती है। अनुभव के साथ भाषा का बहुत गहरा संबंध है। दलित जीवन के अनुभव के साथ वह भाषा भी आती है, जिसमें दलित अब बिना इच्छा और मजबूरी में जीते हैं। रचनाकार जिस भाषा में जीते मरते हैं, उसी स्थिति और लोगों की अभिव्यक्ति करते हैं। दलित आत्मकथा में मुहावरों का प्रयोग देखने को मिलता है। 'अछूत'- 'छठी का दूध याद आना' 'एक घाव दो टुकड़े' 'खुद के भीतर अंधेरा दूसरों को क्या ज्ञान सिखाना' 'नंगे से खुदा डरे' 'दो पैसे की मुर्गी और चार आने का मसाला' 'जीवन हमार'-'घोड़े बेच कर सो रहा' 'अक्करमाशी' -'खार खाना'

'जूठन' मन के भीतर कांटे, सीने में चाकू, माँ की आंखों में दुर्गा तीर की तरह, घुटनों में सिर, अपने-अपने खोल, काँच पर खींची लकीर, जलन से फफोले जुल्फों से तेल, आँखों की किरकिरी, नजरों में खटकना, 'अपने-अपने पिंजरे' रोज कुआँ खोदना, रोज पानी पीना, बिना आंसुओं के रोना।

दलित रचनाकार में दलित साहित्य में सरल, सहज भाषा, ग्रामीण बोली, गाली-गलौज की भाषा, आक्रोश, आक्रोशित भाषा, अनुकूल भाषा, वैचारिक भाषा का प्रयोग इनकी रचना में दिखता

है। साहित्य में प्रतीकों का बहुत ही महत्त्व होता है। लेखक प्रतीकों के माध्यम से अपने विचारों को प्रस्तुत करता है। दलित आत्मकथा में अपने समाज के शोषण, अन्याय, अत्याचार को यथार्थ रूप में चित्रित करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। हिंदी आत्मकथा अपने अपने पिंजरे में अपनी बस्ती, गाँव, जूठन, जूठन का तात्पर्य, उसके शब्द से ही प्रतीत होता है। मुर्दहिया, मणिकर्णिका से समाज के यथार्थ के रूप को परिभाषित करती हैं। शिकंजे का दर्द पितृसत्तात्मक एवं सामाजिक शिकंजे को दर्शाता है। अक्करमासी अवैध संबंधों से उभरी नाजायज औलाद की कहानी कहता है। उचक्का जाति विशेष को रेखांकित करता है। अछूत अस्पृश्य समाज की दर्दनाक कहानी की ओर इशारा करता है। यह सभी आत्मकथाएं प्रतीकात्मक है आत्मकथाएं प्रतीक के रूप में संपूर्ण समाज की वेदना को संजोये हुए हैं।

## सन्दर्भ सूची:


1. डॉ. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 5
2. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-1; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 16-17
3. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 11
4. डॉ. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 85
5. डॉ. तुलसीराम, मणिकर्णिका; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 9
6. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 87
7. टाकभौरे, सुशीला; शिकंजे का दर्द; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 13
8. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 46-47
9. वही, पृष्ठ 178
10. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 11
11. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 25
12. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 35
13. गायकवाड, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 9
14. कांबले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललिता अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 115.
15. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-1; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 15
16. वही, पृष्ठ 96
17. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-2; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 11
18. वही, पृष्ठ 134
19. वही, पृष्ठ 142
20. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन दूसरा खंड; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 83-84.
21. डॉ. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 14
22. वही, पृष्ठ 62
23. डॉ. तुलसीराम; मणिकर्णिका; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 43
24. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 36-37
25. वही, पृष्ठ 41
26. वही, पृष्ठ 51

27 वही, पृष्ठ 135-136
28. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 73
29. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 122-123.
30. सोनकाम्बले, प्र. ई.; यादों के पक्षी; अनु. डॉ. सूर्य नारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2004; पृष्ठ 24
31. लिंबाले, शरणकुमार; अक्करमाशी, अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 44
32. वही, पृष्ठ 77
33. कांबले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललिता अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 65
34. गायकवाड, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. डॉ.. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 48
35. वही, पृष्ठ 63
36. वही, पृष्ठ 138
37. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 53
38. वही, पृष्ठ 125
39. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 71
40. गायकवाड, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2011. पृष्ठ 129
41. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-1; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 52-53
42. वही, पृष्ठ 69-70
43. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-2; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 57
44. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 65-66
45. वही, पृष्ठ 73
46. वही, पृष्ठ 116
47. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन दूसरा खंड; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड; नई दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 28
48. डॉ.. तुलसीराम; मणिकर्णिका; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 37
49. वही, पृष्ठ 40-41
50. टाकभौरे, सुशीला; शिकंजे का दर्द; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 25

51. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे.; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 52
52. सोनकाम्बले, प्र. ई. यादों के पक्षी; अनु. डॉ. सूर्य नारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2004; पृष्ठ 34
53. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 120
54. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-2; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 63
55. वही, पृष्ठ 65
56. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 30
57. लिंबाले, शरणकुमार; अक्करमाशी; अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 49
58. वही, पृष्ठ 66
59. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 22
60. वही, पृष्ठ 31
61. वही, पृष्ठ 32
62. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-1; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 37
63. वही, पृष्ठ 85-86
64. वही, पृष्ठ 86
65. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 37
66. वही, पृष्ठ 53
67. वही, पृष्ठ 78
68. वही, पृष्ठ 98
69. डॉ.. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 11
70. वही, पृष्ठ 105
71. टाकभौरे, सुशीला; शिकंजे का दर्द; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 26-27
72. वही, पृष्ठ 36
73. वही, पृष्ठ 92
74. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 15
75. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार; दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 17
76. वही, पृष्ठ 23
77. वही, पृष्ठ 35
78. वही, पृष्ठ 57
79. वही, पृष्ठ 89

80. लिंबाले, शरणकुमार; अक्करमाशी; अनु. सूर्यनारायण रणसुभे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014; पृष्ठ 112
81. पवार, दया; अछूत; अनु. दामोदर खडसे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 28
82. वही, पृष्ठ 68
83. कांबले, बेबी; जीवन हमारा; अनु. ललिता अस्थाना; किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2011; पृष्ठ 27-28
84. वही, पृष्ठ 82
85. गायकवाड, लक्ष्मण; उचक्का; अनु. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली;. संस्करण 2011; पृष्ठ 25
86. वही, पृष्ठ 59
87.वही, पृष्ठ 134
88. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 50
89. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-2; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013; पृष्ठ 45
90. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 52
91. डॉ. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016; पृष्ठ 09
92. वही, पृष्ठ 50
93. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018; पृष्ठ 16
94. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015; पृष्ठ 16
95. वही, पृष्ठ 28
96. वही, पृष्ठ 51
97. पवार, उर्मिला; आयदान; अनु. सौ. माधवी प्र. देशपांडे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010; पृष्ठ 89

# उपसंहार

हिंदी तथा मराठी साहित्य में आत्मकथा विधा का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्मकथा साहित्य की ऐसी विधा है जो कल्पना को स्थान न देकर अपनी बात यथार्थ रूप में करती है। साहित्य में कल्पना और यथार्थ दोनों रूप मिलते है। कल्पना में प्रमाणिकता का अभाव रहता है लेकिन यथार्थ प्रमाणिक होता है। आत्मकथा में यथार्थ रूप होने के कारण प्रमाणिक मानी जाती है। भारतीय समाज व्यवस्था में अंतिम छोर पर जीवन जीने वालों की व्यथा दलित आत्मकथा में मिलती है, जिसे हिंदी एवं मराठी रचनाकारों ने पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है। हिंदी कथासाहित्य में आत्मकथा लेखन की प्रेरणा मराठी आत्मकथाओं से आयी है। इन आत्मकथा से प्रेरणा लेकर समाज के सामने भयावह एवं नारकीय जीवन जीने को मजबूत दलित समाज ने पाठक के सामने प्रस्तुत किया है। धर्म और वर्ण व्यवस्था के नाम पर अमानवीय एवं अलोकतांत्रिक बर्ताव करने वालों लोगों के मुखौटे को उतार दिया है। दलित रचनाओं ने समाज में शोषण एवं अत्याचार के स्वरूप को सामने रखा और साथ ही साथ उनसे मुक्ति के मार्ग भी बताये। इसलिए मराठी और हिंदी दलित आत्मकथा पर शोध कार्य करने में रूचि जागृत हुई। मराठी भाषा के साहित्य के पाठकों की सीमा है, लेकिन हिंदी भाषा में अनूदित होकर यह रचनायें अन्य पाठकों तक पहुँच रही है, जिसका प्रभाव हिंदी साहित्य पर भी पड़ा। हिंदी दलित रचनाकारों ने दलित रचनाओं के माध्यम से अपने समाज के सामाजिक परिवेश एवं धार्मिक मान्यताओं के विषय में बताया। आत्मकथा विधा यथार्थ पर आधारित है, इसलिए आत्मकथा के माध्यम से दलित आत्मकथाकर ने स्वयं की जीवनी, परिवेश का चित्रण, विश्वसनीयता, रोचकता और उद्देश्य का चित्रण किया है।

हिंदी और मराठी दलित आत्मकथा में जीवन जीने के लिए संघर्ष के साथ-साथ शिक्षा को लेकर जागरूकता आ रही है। मराठी और हिंदी की आत्मकथाओं को पढ़ने के दौरान उनकी समस्याएँ एक जैसी दिखाई देती हैं, लेकिन मराठी आत्मकथा में डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों का प्रभाव

अधिक दिखाई देता है। मराठी दलित समाज ग्रामीण से शहर की तरफ पलायन कर रहा हैं, जबकि हिंदी आत्मकथा में यह पलायन उन्हीं व्यक्तियों के द्वारा है जो शिक्षा या मेहनत-मजदूरी करने शहर जाते हैं, लेकिन उनका परिवार गाँव में ही निवास करता है।

दलित रचनाओं में नकारे गए समाज के दुखों और यातनाओं का इतिहास है। दलित समाज को देखे तो ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में अन्य जातियों से संवेदनाओं का आदान-प्रदान बहुत कम होता है। साहित्य में संवेदनाएं तो दिखाई देती हैं, लेकिन दलित समाज की संवेदनाएं बहुत कम देखने को मिलती हैं। दलित रचनाकारों ने अपने समाज की संवेदनाओं को विमर्श के केंद्र में लाकर खड़ा कर दिया। जाति व्यवस्था के कारण भेदभाव और मनुष्य को मनुष्य न मानना अमानवीय है। दलित रचनाओं में जाति व्यवस्था के अंतर्गत सवर्णों ने दलितों को हमेशा गाँवों से एवं शहर से दूर रहने दिया एवं सम्मान से जीने का अधिकार नहीं दिया, दलितों को स्कूल, मंदिर, तालाब व घरों में प्रवेश नहीं दिया। सवर्णों एवं पिछड़ों ने दलितों का तिरस्कार किया, छुआछूत और अस्पृश्यता के कारण दलितों को हर रोज अपमानित जीवन जीने पर मजबूर किया।

दलितों में बाल-विवाह, बहुविवाह, अनमेल-विवाह भी देखने को मिलता है। लेकिन दलितों के यहाँ विवाह को लेकर कोई कठोरता दिखाई नहीं देती है। पुरुष या स्त्री कोई भी अपने संबंध विच्छेद कर सकता/ती है और किसी से भी विवाह कर सकते है। तलाकशुदा स्त्री या विधवा स्त्री का विवाह दलित समाज में देखने को मिलता है। पुलिस व्यवस्था व गाँव के मुखिया, सरपंच, अधिकारियों का डर दलित समाज में दिखता है। दलित समाज में चोरी, डकैती, नशाखोरी, अवैध धंधों का वर्णन दलित आत्मकथा में मिलता है। समाज ने दलितों को कोई अधिकार एवं सम्मान से जीवन जीने से वंचित रखा। संविधान लागू होने के बाद भी दलित समाज अपने अधिकार के लिए संघर्ष करता हुआ दिखाई देता है। दलित समाज में भी उच्च जाति एवं निम्न जाति के भाव दिखाई देता है। जाति व्यवस्था का यह रूप सवर्ण, पिछड़े जातियों में ही नहीं है, बल्कि निम्न जातियों में भी देखने को मिलते है। महार, चमार से स्वयं को श्रेष्ठ समझते हैं, जैसे जाटव, चमारों से अपने को श्रेष्ठ समझते हैं,

चमार, भंगी से अपने को श्रेष्ठ समझते हैं। इस तरह से दलित समाज के आंतरिक जातिवाद के स्वरूप भी देखने को मिलते हैं। दलितों में भी उच्च और निम्न दलित के रूप दिखाई देते हैं जिससे दलितों का शोषण होता है। दलित आत्मकथाओं में दलित समाज किसान कम ही दिखाई देते हैं, वह सवर्णों के खेत में खेती, मजदूर, हरवाही करते हैं। दलितों के पास भूमि नहीं है जिससे दलित समाज आर्थिक विपन्नता या भूखमरी का शिकार हो रहा है। खेती न होने के कारण ही दलितों का शोषण होता है। दलितों के पास पेट भरने को भी अनाज नहीं होता जिसका वर्णन  हिंदी और मराठी आत्मकथाओं में मुख्य रूप से मिलता है।

दलित आत्मकथा में दलित समाज के धार्मिक जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। दलितों में स्थित धार्मिक अंधविश्वास, धार्मिक विधि, देवदासी प्रथा, पोतराज, बलि प्रथा तथा धर्म परिवर्तन जैसे महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख मिलता है। दलित वर्ग अशिक्षित, अज्ञानी गरीब होने के कारण देवी-देवताओं पर अधिक श्रद्धा रखता है। इसी श्रद्धा से धार्मिक क्रियाओं का आयोजन करता है और अंधविश्वासों में फँसता चला जाता है। मराठी दलित आत्मकथा में पोतराज, देवदासी प्रथा का वर्णन मिलता है। लड़की का विवाह ईश्वर के साथ बचपन कर दिया जाता है जिसे देवदासी कहा जाता है। माँ- बाप अपनी लड़की को ईश्वर की सेवा के लिए छोड़ देते हैं। बड़े लड़के को भी ईश्वर के लिए छोड़ दिया जाता है जिसे पोतराज कहते। लड़की या लड़के की अपनी भावनाएं होती हैं, लेकिन यह समाज अपने बच्चों की भावनाओं पर विचार नहीं करता है और उन्हें इस प्रथा में धकेल देता है। पुरुषों एवं महिलाओं पर अत्याचार को रोकने के लिए पोतराज एवं देवदासी प्रथा बंद होनी चाहिए।

हिंदी एवं मराठी के सभी दलित आत्मकथाओं में शोषण, अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष का स्वर, कहीं आक्रोशित रहा है तो कहीं थोड़ा कम है। विद्रोह को व्यक्त करने का अंदाज भी सभी का अपना-अपना है। हिंदी आत्मकथाओं में यह आक्रोश कम दिखाई देता है जबकि मराठी आत्मकथा में यह विद्रोह अधिक दिखाई देता है। आत्मकथाकारों ने अपनी रचनाओं में डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों को महत्त्व दिया है। हिंदी एवं मराठी की दलित आत्मकथाओं में महिला रचनाकारों की संख्या

कम है, लेकिन सभी रचनाओं के माध्यम से पितृसत्तात्मक समाज में पुरुषों द्वारा घर के भीतर और बाहर प्रमाण प्रताड़ित एवं अपमानित होने का वर्णन दिखता है। हिंदी की लेखिका मराठी की तुलना करने पर यह तथ्य सामने आता है मराठी की लेखिकाओं के स्वर ज्यादा तीव्र है। स्त्रियों के साथ दलित पुरुषों का बर्ताव शोषण एवं अत्याचारपूर्ण ही रहा है। आत्मकथा में कहीं-कहीं पुरुष स्त्रियों का साथ देते भी दिखते है। विवाह के पश्चात पुरुष चाहे जितना जुल्म और अत्याचार करें पत्नी को उसी के साथ निभाने की सलाह दी जाती है। जिसका उदाहरण उर्मिला पवार की आत्मकथा में देखने को मिलता है। जब उनकी बहन का पति उन्हें मारता है तो वह मायके आ जाती हैं, लेकिन उनके पिता उन्हें खाना खिलाकर पुनः पति के घर भेज देते हैं। बाद में शोषण और अत्याचार के कारण उनकी बहन मर जाती है। दलित स्त्रियों पर शारीरिक और मानसिक दोहरा शोषण हो रहा हैं। दलित स्त्रियों का पढ़ने के लिए आगे आना किसी चमत्कार से कम नहीं  था। दलित स्त्रियों के भयंकर, दुख, दर्द एवं संघर्ष को मुखर करने वाली आत्मकथाएं स्त्री जीवन की वेदना से सीधे साक्षात्कार कराती हैं। दलित समाज के विषय में कोई मुकम्मल जानकारी नहीं मिलती है। दलित आत्मकथा दलित समाज के जानकरी की दस्तावेज की तरह हैं जिससे दलित समाज के सांस्कृतिक, धार्मिक मूल्य की पहचान होती है और अपने खोये हुए अस्तित्व की पहचान कर सके। दलित आत्मकथाओं के लेखन करते समय आत्मकथाकर अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन भी करता है।तथ्यों की पूर्ण जानकारी का अभाव भी आत्मकथा में देखने को मिलता है।

दलित आत्मकथाओं के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि मराठी व हिंदी की दलित आत्मकथाओं का आधार एक ही है। पारंपरिक रुढियों, असमानता को नकारते  हुए रचनाएं स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व को अधिकार मानती हैं।

# संदर्भ ग्रन्थ सूची

## आधार ग्रंथ:


1. डॉ. तुलसीराम; मुर्दहिया; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016
2. डॉ.. तुलसीराम; मणिकर्णिका; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2016
3. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-1; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013
4. नैमिशराय, मोहनदास; अपने-अपने पिंजरे भाग-2; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2013
5. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2013
6. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; जूठन दूसरा खंड; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2015
7. टाकभौरे, सुशीला; शिकंजे का दर्द; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014
8. बेचैन, श्यौराज सिंह; मेरा बचपन मेरे कन्धों पर; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2018
9. बैसंत्री, कौसल्या; दोहरा अभिशाप; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीतबिहार, दिल्ली; संस्करण 2015
10. पवार, दया; (अनु.) दामोदर खडसे; अछूत; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2016
11. पवार, उर्मिला; (अनु.) सौ. माधवी प्र. देशपांडे; आयदान; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2010
12. गायकवाड, लक्ष्मण; (अनु.) डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे; उचक्का; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड. नई दिल्ली; संस्करण 2011
13. कांबले, बेबी; (अनु.) ललिता अस्थाना; जीवन हमारा; किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2011
14. सोनकाम्बले, प्र. ई.; (अनु.) डॉ.. सूर्य नारायण रणसुभे, यादों के पक्षी; राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली; संस्करण 2004
15. लिंबाले, शरणकुमार; (अनु.) सूर्यनारायण रणसुभे; अक्करमाशी; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2014


## सहायक ग्रंथ:


1. बॉटमोर, टी. बी.; (अनु.) गोपाल प्रधान; समाजशास्त्र; ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण 2012
2. विद्याभूषण; डी. आर. सचदेवा; समाजशास्त्र के सिद्धांत; किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण 1982
3. कालेकर, काका; गाँधीवाद : समाजवाद; सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली; संस्करण 2000
4. संपूर्ण गाँधी वांगमय; भाग 29, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार; नई दिल्ली

संस्करण 1969

5. डॉ. अंबेडकर, आर. बी.; हिंदुत्व का दर्शन; बाबासाहेब डॉ.. अंबेडकर, संपूर्ण वांग्मय. खंड 6; डॉ.. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली; संस्करण 2016

6. डॉ. अंबेडकर, आर. बी.; अस्पृश्यता अथवा भारत में बहिष्कृत बस्तियों के प्राणी, बाबासाहेब डॉ.. अंबेडकर, संपूर्ण वांग्मय, खंड 9; डॉ.. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली; संस्करण 2016

7.डॉ. अंबेडकर, आर., बी.; भारत में जातिप्रथा एवं जातिप्रथा-उन्मूलन भाषायी प्रांतों पर विचार रानाडे, गाँधी और जिन्ना, बाबासाहेब डॉ.. अंबेडकर, संपूर्ण वांग्मय, खंड 1; डॉ.. अंबेडकर प्रतिष्ठान, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली; संस्करण 2016

8. डॉ. दीक्षित, ताराचन्द; डॉ.. लोहिया का समाजवादी दर्शन; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1976

9. सं. शरद, ओंकार; लोहिया के विचार; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1969

10. लिम्बाले, शरण कुमार; (अनु.) रमणिका गुप्ता; दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र; वाणी प्रकाशन, दरियागंज. नई दिल्ली; संस्करण 2010

11. कुमार, अजय; दलित पैंथर; गौतम बुक सेंटर, दिल्ली; संस्करण 2006

12. तिवारी, बजरंग बिहारी; दलित साहित्य एक अंतर्यात्रा; नवारुण प्रकाशन, वसुंधरा, गाजियाबाद; संस्करण 2015

13. नैमिशराय, मोहनदास; दलित साहित्य; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; संस्करण 2014

14. डॉ. देसाई, बापूराव; हिंदी आत्मकथा विधा का शास्त्र और इतिहास; कानपुर; संस्करण 2011

15. तिवारी, डॉ.. रामचंद्र; हिंदी का गद्य-साहित्य; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; संस्करण 2015

16. डॉ.. श्रीवास्तव, चम्पा; हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013

17. सं. वर्मा, धीरेंद्र; हिंदी साहित्य कोश; ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी; संस्करण 2009

18. सं. प्रसाद, कालिका; बृहत हिंदी कोश; ज्ञान मंडल लिमिटेड, वाराणसी; संस्करण 2009

19. राय, बाबू गुलाब; काव्य के रूप; आत्माराम एंड संस, दिल्ली; संस्करण 1958

20. गुप्ता, शांति स्वरूप; पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धांत; अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 1965

21. डॉ. नगेंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; मयूर पेपरबैक्स, नोएडा; संस्करण 1973

22. डॉ. मिश्रा, सरयू प्रसाद; हिंदी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ; अमन प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2011

23. जैन, पुनीता; हिंदी दलित आत्मकथाएं एक मूल्यांकन; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2018

24. ठाकुर, हरिनारायण; दलित साहित्य का समाजशास्त्र; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; संस्करण 2010

25. चन्द्र, सुभाष; दलित आत्मकथाएं अनुभव से चिंतन; साहित्य उपक्रम, दिल्ली, संस्करण 2012

26. काजल, अजमेर सिंह; दलित आत्मकथाएं वेदना विद्रोह और सांस्कृतिक रूपांतरण; अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2018

27. आचार्य शुक्ल, रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; कमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण नवीनतम

28. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और समाजशास्त्रीय दृष्टि; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; संस्करण 2016

29. सिंह, बच्चन; साहित्य का समाजशास्त्र; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 2011

30. डॉ.. शर्मा, हरद्वारीलाल; साहित्य और कला; हिंदी साहित्य सम्मलेन; प्रयाग; संस्करण 1959

31. सं. नवल, नन्द किशोर; हिंदी साहित्यशास्त्र, साहित्य का उद्देश्य-प्रेमचंद; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013

32. डॉ. सिंह, जे.पी.; प्रारम्भिक समाजशास्त्र; बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पटना; संस्करण 2003

33. आहूजा, राम; मुकेश आहूजा; समाजशास्त्र; रावत पब्लिकेशन, जयपुर; संस्करण 2015

34. सं. जैन, निर्मला; साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन; हिंदी मध्यम कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ल विश्वविद्यालय; संस्करण 2009

35. डफ, जेम्स कनिंघम ग्रांट; (अनु.) लक्ष्मीकांत मालवीय; मराठों का इतिहास; महामना प्रकाशन मंदिर, महामना मालवीय नगर, इलाहाबाद; संस्करण नवीन

36. सुमन, क्षेमचंद्र; मराठी और उनका साहित्य; राजकमल पब्लिकेशन लिमिटेड, दिल्ली; संस्करण प्रथम

37. मेहरोत्रा, श्रीराम; साहित्य का समाजशास्त्र मान्यताएं एवं स्थापना; चौखम्भा विश्वभारती, वाराणसी; संस्करण 1980

38. दाढ़े, वीणा; हिंदी- मराठी दलित आत्मकथाएं; अमन प्रकाशन, कानपुर; संस्करण 2017

39. सिंह, बच्चन; आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 2015

40. चतुर्वेदी, रामस्वरूप; हिंदी गद्य विन्यास और विकास; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण चतुर्थ.

41. वाजपेयी, नन्ददुलारे; हिंदी साहित्य: बीसवीं शताब्दी; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 2007

42. अवस्थी, देवीशंकर; अलोचना और आलोचना; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013

43. अवस्थी, देवीशंकर; आलोचना का द्वंद्व; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 1999

44. अहमद, इम्तयाज; मध्यकालीन भारत (8वीं से 18वीं शताब्दी) एक सर्वेक्षण; नेशनल बुक स्टोर्स, पटना; संस्करण 2007

45. आचार्य, नंद किशोर; इतिहास के सवाल; सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली; संस्करण 2011

46. गुप्ता, रमणिका; सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे; वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली; संस्करण 2008

47. जैन, प्रीति; भारतीय इतिहास; विद्या प्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली; संस्करण 2012

48. जैन, प्रीति, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन; विद्या प्रकाशन मंदिर, नई दिल्ली; संस्करण 2015

49. ताराचंद, (अनु.). सुरेश मिश्र; भारतीय संस्कृति पर इस्लाम का प्रभाव; ग्रंथशिल्पी, दिल्ली; संस्करण 2006

50. तिवारी, नित्यानंद; मध्ययुगीन रोमांचक आख्यान; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; संस्करण 2012

51. थापर, रोमिला; (अनु.). मंगलनाथ सिंह; आदिकालीन भारत की व्याख्या; ग्रंथशिल्पी, दिल्ली; संस्करण 2012

52. थापर, रोमिला; भारत का इतिहास; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2008

53. दत्त, रजनी पाम; (अनु.) रामविलास शर्मा; ग्रंथशिल्पी, लक्ष्मी नगर, दिल्ली; संस्करण 2000

54. दिनकर, रामधारी सिंह; संस्कृति के चार अध्याय; लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2015

55. दुबे, श्यामा चरण; (अनु.) वंदना मिश्रा; भारतीय समाज; राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली; संस्करण 2014

56. नवल, नंद किशोर; हिन्दी आलोचना का विकास; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2011

57. नेहरु, जवाहर लाल; (अनु.) रामचंद्र टंडन; हिन्दुस्तान की कहानी; सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली; संस्करण 2012

58. पचौरी, सुधीश; आलोचना से आगे; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2001

59. पाण्डेय, मैनेजर; भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2013

60. मुखिया, हरबंस; मध्यकालीन भारत: नए आयाम; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2011

61. राय, गोपाल; हिंदी उपन्यास का इतिहास; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2014

62. राय, गोपाल; हिंदी कहानी का इतिहास; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2011

63. वर्मा, लाल बहादुर; आधुनिक विश्व का इतिहास; हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; संस्करण 2015

64. शर्मा, रामविलास; आस्था और सौन्दर्य; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2000

65. शर्मा, रामशरण; भारतीय सामंतवाद; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2010

66. हबीब, इरफ़ान; भारतीय इतिहास में जाति और मुद्रा; पी.पी. हाउस, नई दिल्ली; संस्करण 1992

67. हबीब, इरफ़ान; (अनु.) नरेश नदीम; मध्यकालीन भारत; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2006

68. वाल्मीकि, ओमप्रकाश; मुख्यधारा और दलित साहित्य; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2014

69. पालीवाल, कृष्णदत्त; दलित साहित्य बुनियादी सरोकार; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2009

70. द्विवेदी, हजारी प्रसाद; हिंदी साहित्य का आदिकाल; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2006

71. तलवार, वीरभारत; रस्साकशी; सारांश प्रकाशन, हैदराबाद; संस्करण 2006

72. देथा, विजयदान; साहित्य और समाज; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2014

73. फुले, ज्योतिराव गोविंदराव; (अनु.) डॉ. विमलकीर्ति; सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2012

74. पेरियार, ई. वी. रामास्वामी; दर्शन चिंतन और सच्ची रामायण; फारवर्ड प्रेस, नई दिल्ली; संस्करण 2020

75. शंभूनाथ; हिंदू मिथक; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2019

76. बडोला, बी.पी.; समाजशास्त्री विचार एक परिचय; रावत पब्लिकेशन, जयपुर; संस्करण 2017

77. दोषी, एस. एल.; पी.सी. जैन; प्रमुख समाजशास्त्रीय विचारक; रावत पब्लिकेशन, जयपुर; संस्करण 2020

78. नागला. बी.के.; भारतीय समाजशास्त्री चिंतन; रावत पब्लिकेशन, जयपुर; संस्करण 2019

79. फुले, ज्योतिबाराव; गुलामगिरी; अनुवादक डॉ. विमल कीर्ति; सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2012

80. तेलतुम्बडे, आनंद; जनवादी समाज और जाति का उन्मूलन; संपादक रुबीना सैफी; आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा; संस्करण 2016

81. डॉ. शर्मा, रामविलास; प्रेमचंद और उनका युग; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2011

82. बद्रीनारायण; दलित वीरांगनाओं एवं उक्त विचार; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2014

83. हालदार, बेबी; आलो अंधारी; अनुवाद प्रबोध कुमार; रोशनाई प्रकाशन, पश्चिम बंगाल; संस्करण 2009

84. सोनकर, रूपनारायण; नागफनी; शिल्पा जैन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर, दिल्ली; संस्करण 2014

85. चौहान, सूरजपाल; संतप्त; वाणी प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2006

86. मेघवंशी, भंवर; मैं एक कारसेवक था; नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद, संस्करण 2019

87. कृष्ण, प्रणय; विमर्श और आलोचना; सपोर्ट क्रिएटिव सर्विसेज, इलाहाबाद; संस्करण 2011

88. डॉ. धर्मवीर; महान आजीवक कबीर रैदास और गोसाल; वाणी प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2017

89. मेयो, मिस कैथरीन; मदर इंडिया; अनुवादक कँवल भारती; फारवर्ड प्रेस, नई दिल्ली; संस्करण 2019

90. चौबे, देवेंद्र; आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श; ओरियंट ब्लैकस्वान, हैदराबाद; संस्करण 2009

91. कठेरिया, कमल किशोर; भारतीय संस्कृति का पुनर्लेखन अस्मिताओं का संघर्ष; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण 2015

## पत्रिकाएँ:

1.वाक, संपादक सुधीश पचौरी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, अंक 9, वर्ष 2011

2. देश हरियाणा, संपादक सुभाष चंद्र, कुरुक्षेत्र, अंक 4, मार्च-अप्रैल 2016

3. देश हरियाणा, संपादक सुभाष चंद्र, कुरुक्षेत्र, अंक 5, मई-जून 2016,

4. दलित अस्मिता, संपादक विमल थोराट, नई दिल्ली, अंक 27, अप्रैल-जून 2017

5. कथादेश, अतिथि संपादक बजरंग बिहारी तिवारी, प्रियंका सोनकर, रामनरेश राम, दिल्ली, अंक 7 सितंबर 2019

6. हंस, संजय सहाय, अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, अंक 5, दिसंबर 2019

7. हंस, संजय सहाय, अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, अंक 4, नवंबर 2019

## शब्दकोश:

1. बाहरी, डॉ. हरदेव; हिंदी शब्दकोश; राजपाल एंड संस; कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण 2011

2. वर्मा, (प्र.सं.) धीरेन्द्र; ब्रजेश्वर वर्मा, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी और रघुवंश; हिंदी साहित्य कोश; भाग 1 ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी; संस्करण 2005

3. शर्मा, सं. डॉ. हरवंशलाल; डॉ.. कैलाश चन्द्र भाटिया; हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग 14 नागरी

प्रचारिणी सभा, वाराणसी; संस्करण 1970

4. सहाय, सं राजवल्लभ एवं अन्य (2005), वृहद् हिंदी शब्दकोश; ज्ञानमंडल प्रकाशन, विक्रम भवन, वाराणसी; संस्करण 2005

5. सिंह, सं. सत्यव्रत; हिंदी साहित्य कोश भाग-1; चौखाभा प्रकाशन, वाराणसी; संस्करण 1995